जीवन विवेचन

भाग 7(ख)

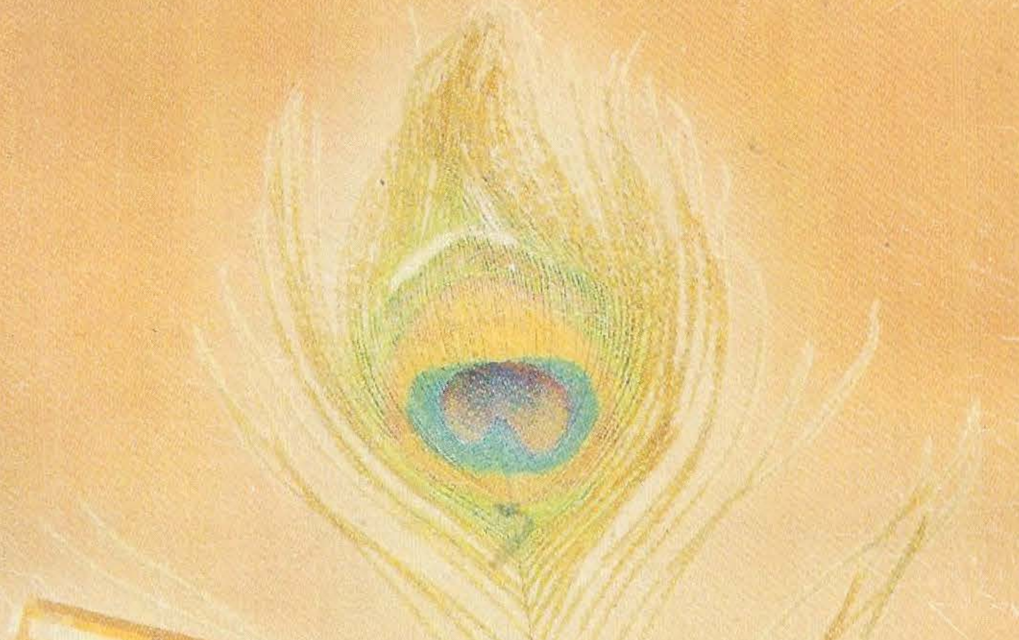

मानवता में ही पूर्णता निहित है
त्याग प्रेम
सेवा
मानव सेवा संघ

मानव सेवा संघ, प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

जीवन विवेचन

भाग 7(ख)

परम पूज्या दिव्य ज्योति
देवकी माताजी के प्रवचन

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

- प्रकाशक :

मानव सेवा संघ
वृन्दावन (मथुरा)
पिन-281121

© सर्वाधिकारी प्रकाशक

- प्रथम संस्करण—2008

- 3000 प्रतियाँ

- मूल्य : 25 [illegible]

- मुद्रक :
पावन प्रिन्टर्स,
मेरठ

प्रार्थना

('प्रार्थना' आस्तिक प्राणी का जीवन है।)

मेरे नाथ!
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्व समर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में,
त्याग का बल,
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल
प्रदान करें;
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृतकृत्य हो जायें।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

प्रार्थना

मेरे नाथ,

आप अपनी सुधामयी, सर्व समर्थ, पतित पावनी, अहैतुकी कृपा से मानव मात्र को विवेक का आदर तथा बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य प्रदान करें एवं हे करुणा सागर ! अपनी अपार करुणा से शीघ्र ही राग-द्वेष का नाश करें। सभी का जीवन सेवा-त्याग-प्रेम से परिपूर्ण हो जाए।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

वस्तु खिंचती है धरती की ओर
मनुष्य खिंचता है अनन्त की ओर।

अनुक्रमणिका

क्रमांक		पृष्ठ संख्या
1.	प्रवचन 11	...7
2.	प्रवचन 12	...25
3.	प्रवचन 13	...39
4.	प्रवचन 14	...52
5.	प्रवचन 15	...68
6.	प्रवचन 16	...82
7.	प्रवचन 17	...97
8.	प्रवचन 18	...114
9.	प्रवचन 19	...130
10.	प्रवचन 20	...146

मेरा मुझमें कुछ नहीं,
जो कुछ है सो तोर !

श्री सद्गुरु देव के श्री चरणों में
सादर सविनय समर्पित

—विनीता देवकी

प्रवचन 11

उपस्थित महानुभाव सत्संग-प्रेमी माताओ बहनो और भाइयो !

एक यह प्रश्न है। जीवन राग-द्वेष से रहित हो और सुख-दुःख से अतीत जीवन में प्रवेश होने का कृपया सरल उपाय बताने की कृपा करें।

उत्तर—तो पहली बात जो स्वामी जी महाराज की याद आ रही है। इतना बड़ा प्रश्न आप हल करने चले हैं, सुख-दुख से अतीत के जीवन में प्रवेश चाहते हैं और इतने बड़े काम के लिए सरल उपाय खोज रहे हैं। स्वामी जी महाराज ने एक सज्जन को ऐसे ही उत्तर दिया था कि भैया तुमने रोटी कमाने का सरल उपाय नहीं पूछा? दिन-रात एक कर दिया दुनिया का काम करने के लिए दिन-रात परिश्रम करके एड़ी-चोटी का पसीना बहा करके तुमने किया और दुनिया के पार पहुँचना चाहते हो और कहते हो सरल उपाय चाहिए, तो तुमको नहीं मिलेगा।

इसका अर्थ क्या है? महाराज जी की भाषा तो विनोद की होने पर भी उसमें बहुत गहन सत्य है। इसका अर्थ यह है कि जो सरल उपाय खोज रहा है कि अगर कोई सरल उपाय मिल जाएगा तो हम कर लेंगे तो इसका अर्थ यह है कि अगर सरल उपाय नहीं मिलेगा तो हमको उसकी खास जरूरत नहीं है। तो सत्य की अभिव्यक्ति में शर्त क्या है? सत्य की अभिव्यक्ति में शर्त बिल्कुल इसके विपरीत है। वह सत्य क्या है कि जिसके बिना तुम किसी भी प्रकार से रह ही न सको। जिनके भीतर सत्य की जिज्ञासा जगती है, जिनके भीतर देहातीत जीवन में प्रवेश पाने की आवश्यकता जगती है, वे सरल और कठिन कुछ देखते ही नहीं हैं और जब तक इस प्रकार की गुंजाइश है, किस बात की कि देखें कोई सरल उपाय मिल जाए तो करलें नहीं तो रहने दो भई, यह बात जब तक है तब तक किसी भी प्रकार से इस दिशा में प्रगति होने वाली नहीं है, कभी नहीं

होगी। पहले तो यह बात दिमाग से निकालना पड़ेगा कि भई सरल उपाय मिले। क्यों मिले सरल उपाय? जो धन आप जीवन के मध्य में कमाना शुरू करते हैं जन्म से तो कमाया नहीं। कितने दिनों तक माता-पिता और समाज के खिलाने से खाया। किसी समय योग्यता आई, बल आया, अवसर आया तब कमाना शुरू किया और आखिर में फिर छूट भी जाएगा। तो थोड़े दिनों के लिए जो धन है उसके लिए आप कभी नहीं सोचते हैं सरल। कठिन से कठिन काम करने के लिए आदमी तैयार होता है।

भूख छोड़ता है, नींद छोड़ता है। सब छोड़ करके जी-जान लगा के करता है। तो थोड़े दिन के लिए जो आपके पास आने वाला है, उसके लिए आप सरल बात नहीं सोचते हैं, जो सदा रहे सब प्रकार की समस्याओं का समाधान करने वाला है, उसके लिए आप कहते हैं, सरल उपाय बताओ। इसका मतलब है कि आप को उस जीवन की अभी आवश्यकता नहीं है। उसके बिना भी आप अच्छी तरह से खा-पी करके सो करके दिन काट रहे हैं, इसलिए नहीं है। तो किसको मिलता है, जो उसके लिए सब कुछ छोड़ने को तैयार है। अभी थोड़े दिन पहले की बात है वृन्दावन में ही आश्रम में ही हमको बताया था हमारी लड़कियों ने। तो यह बताया था कि यहाँ कोई एक बूढ़ा आदमी ईश्वर-विश्वासी रहता है और बहुत दिनों से कृष्ण भगवान की आराधना में वह सज्जन ब्रजवासियों के टुकड़े खा करके भगवान के भजन में लग करके, घर-बाहर छोड़ करके सब प्रकार की सुख-सुविधा छोड़ करके उन्होंने बहुत समय बिताया वहाँ। फिर भी उनको भीतर से ऐसा लगा कि कन्हैया तो हमको मिला ही नहीं, जिन्दगी तो खत्म होने वाली है। इतना तो मैं वृद्ध हो गया अब कब तक शरीर रहेगा, अब कब तक मैं क्या करूँगा? भीतर से इतने व्याकुल हो गए परेशान हो गए तो उन्होंने कहा अब क्या करे ब्रज छोड़कर कही जाऊँगा भी नहीं और कन्हैया तो मिलता ही नहीं है उसके बिना किसी प्रकार से रहा जाता ही नहीं है

तो चलें जमुना जी में छलाँग लगा कर शरीर छोड़ ही दें, अब क्या करें रख कर? नहीं मिलेगा तो चले गए शाम के समय धुँधलके में जमुना जी के तट पर वंशी वट के नीचे और सोच ही रहे थे कि एकदम से कूद पड़ें धारा में और शरीर त्याग दें तो उसी समय ग्वाल बाल का एक नौ दस वर्ष का छोकरा आया हाथ में लाठी लिए और जल्दी से पकड़ लिया उस बूढ़े का हाथ, अरे बाबा यह क्या करता है?

यह क्या करता है तू, कौन है कहाँ से आया है? तो वह बूढ़ा भी अपनी परेशानी में था। लाला तू छोड़ मेरा हाथ कहाँ से आया है कौन है तू? तो छोड़ो कह कर यह छुड़ाने लगा कि पकड़ लिया उसने कसकर के और कहने लगा कि आत्महत्या का पाप तू मेरे ही नाम पर करेगा क्या? तू कौन है? तब पूछा बूढ़े ने कि कौन है तू? जिसके नाम पर तुम मरने जा रहे हो, वही तो हूँ मैं। तो सत्य का सौदा सिर का सौदा है, ऐसा गाँधी जी ने लिखा है। यह बुजदिलों का काम नहीं है। खाने-पीने के लिए सुख से रहने के लिए सब कठिनाई उठा सकते हैं हम लोग और अविनाशी जीवन के लिए सरल उपाय खोजते हैं? तो स्वामी जी का कहना बिल्कुल सत्य था कि इस मनोवृत्ति से जो सत्य का मार्ग खोज रहा है, उसको कभी मिलेगा नहीं। ऐसे तो विनोद की तरह कह दिया और सब लोग हँस पड़े, पर बात बिल्कुल सही है। लोक और परलोक सब उस पर न्यौछावर करो तो सौदा करो। और जिन लोगों ने सचमुच उस जीवन के लिए सब कुछ तुच्छ समझा और सब कुछ छोड़ने के लिए तैयार हो गए, उनके लिए अत्यन्त सरल है।

उससे अधिक सरल कुछ हो ही नहीं सकता आपने सुना ही होगा, कई जगह महाराज जी ने ऐसे कहा है कि भई फूल के तोड़ने में देर लगती है, सत्य से अभिन्न होने में देर नहीं लगती है। घोड़े की रकाब में पाँव रखने में देर लगती है, सत्य से अभिन्न होने में देर नहीं लगती। सरल है

तो इतना सरल है कि उसमें कुछ करना ही नहीं है। एक बार उस तरह की भी चर्चा चली थी, तो कहा महाराज जी ने कहा कि देखो तो दुनिया की जितनी भी वस्तुएँ है जो भी कुछ तुमको चाहिए, सबके लिए मूल्य चुकाना पड़ता है और हीरा-मोती जवाहरात रत्न इत्यादि का जितना मूल्य है अन्न और जल के लिए उस से कम मूल्य रखा गया है, जो जीवन के लिए आवश्यक है। हीरा-मोती के बिना बहुत से लोग रह सकते हैं, अन्न जल के बिना कोई नहीं रह सकता है, इसलिए उसका कुछ कम मूल्य लगता है और हवा का उससे भी कम और ऐसे करते-करते उन्होंने कहा कि जो सबका अपना है, अपने में है, सबके लिए अनिवार्य है वह free मिलता है। उसका कोई इस प्रकार का मूल्य नहीं है कि आप चुका सकें। तो ऐसा भी कहिए कि अनमोल है और ऐसा भी कहिए कि बेमोल है। किसके लिए जो उसके बिना किसी प्रकार से रह ही नहीं सकता उसके लिए। यह तो हो गई बात।

अब साधना की बात देखिए जहाँ पर हम खड़े हैं और जहाँ से अपने को लगता है कि आगे बढ़ना है तो उसी जगह से विचार करिए कि हम कैसे उस दिशा में आगे बढ़ें तो सुख-दु:ख के पार पहुँचना है अपने को। मानव सेवा संघ की पद्धति में बहुत व्यावहारिक उपाय बताया गया है, कि तुम्हारे पास सुख आए तो तुम उसके भोगी मत बनो, उदारता पूर्वक उस आए हुए सुख के द्वारा दुखियों की सेवा करो। सुख के पार जाना है न? जब तक उसके भोगी बने रहेंगे, भोग न भी करें और उसका महत्त्व माने ऐसे भी लोगों को मैंने देखा है कि पैसे उनके पास खूब हैं और उनको वे अपने लिए उपयोगी भी नहीं मानते, जानते हैं कि अब इस जीवन में इतना पैसा हम खर्च नहीं कर सकेंगे तो मेरे लिए यह उपयोगी नहीं है और फिर भी उस धन का इतना महत्त्व है उनके जीवन में कि देने की बात सोचते ही सोचते जिन्दगी निकल जाती है, उनसे दिया नहीं जाता है। ऐसा

भी होता है। तो सुख के भोगी भी नहीं बनना है और सुख का महत्त्व ही नहीं मानना है।

भोगी नहीं बनेंगे तो उसका राग नहीं बनेगा और महत्त्व नहीं मानेंगे तो उदारता पूर्वक सेवा में लगा सकेंगे। नहीं तो काम में न आने पर भी उस वस्तु का इतना महत्त्व लोग मानते हैं कि खर्च ही नहीं कर सकते हैं, दे ही नहीं सकते, किसी के काम में लगा ही नहीं सकते, दिया ही नहीं जाता है। रखे ही रहो, रखे ही रहो तो उसकी ममता में भी फँसे रहे, उसके संग्रह का भार भी ढोते रहे, उपयोग भी नहीं कर सके और फिर सोचें कि सुख के पार पहुँचने का कोई सरल उपाय मिले, तो मिल ही नहीं सकता। इसलिए जिस स्तर पर हम लोग खड़े हैं अभी, भीतर झाँक करके देखो कि अपने अंदर की दशा क्या है और उस दशा में से निकलने का उपाय अपने को करना है तो सरल और कठिन की बात छोड़ करके, जो उपाय कर सकते हैं, वह करना आरम्भ करिए। तो मिले हुए सुख को समाज की सेवा में लगाना सुख-दुःख के पार पहुँचने का पहला स्थूल उपाय है। एक बात हो गई। ऐसा करने में सहायता कैसे मिलेगी?

जब उसका महत्त्व हम नहीं मानेंगे, तब मिलेगी। अगर सुविधा पूर्वक रहने का महत्त्व हम मानते हैं, तो आए हुए सुख को बाँटा नहीं जा सकेगा। और यदि उसको हम अपने लिए महत्त्वपूर्ण मानेंगे तो उसमें से हमारा ध्यान नहीं हटेगा, चिंतन नहीं हटेगा, शरीर का मोह नहीं मिटेगा। तो पहली परीक्षा तो यहीं पर कर लेना अपनी अपने द्वारा। जो कुछ भी अनुकूलता है, उसको हम उदारता पूर्वक दे सकते हैं कि नहीं दे सकते। एक बात हो गई। दूसरी बात यह है कि किसी प्रकार की कठिनाई सामने आ गई तो आई हुई कठिनाई को देख करके घबरा जाना और जल्दी-जल्दी दूसरों से सहायता ले करके उस कठिनाई को मिटा लेना, इस प्रकार की चेष्टा से भी चेतना नहीं आती है।

मानव सेवा संघ की सलाह यह है कि किसी प्रकार की कठिनाई आए, तो उससे घबराना नहीं चाहिए। मनोविज्ञान का सिद्धान्त यह है कि कठिनाई आने से अगर आदमी घबरा जाए, तो वस्तुतः कठिनाई से जितना कष्ट हो सकता था उससे अनेक गुणा अधिक कष्ट हो जाएगा घबरा जाने से। जैसे धन घट जाए कि परस्पर का प्रेम और विश्वास घट जाए कि किसी प्रिय-जन का वियोग हो जाए, तो यह घटना अपने में उतनी हानिकारक नहीं है। अगर हम इस घटना के सामने घबरा जाएँ, अधीर हो जाएँ तो हमारी बहुत बड़ी क्षति हो जाएगी। तो सुख-दुःख के पार जाने वाले साधक क्या करते हैं कि सुख आए तो अपने को उस सुख से अलग रखकर के सुख के द्वारा दुखियों की सेवा करने की सोचते हैं और कोई कठिनाई आ गई तो उस कठिनाई के सामने झुकते नहीं है, उससे डरते नहीं है उससे घबराते नहीं है। सोचते हैं कि ऐसी कठिनाई का प्रभाव जो है वह मेरे जीवन से कैसे उतरेगा।

अनुभवी संत ने अपनी research (खोज) के आधार पर हम लोगों को सलाह दे दी कि भई जिस अंश में दुःख आए उस अंश में त्याग करो तो हमें अंधेरे में टटोलना नहीं है कि कठिनाई आ गई तो उससे हम उबरे कैसे? अनुभवी जनों ने अनुभव की बात हम लोगों के सामने रख दी और कहा कि भई कठिनाई आए तो त्याग करो। महाराज जी ने अपने लिए कहा कि जैसे आँखें चली गई तो आँखों के चले जाने से अगर मैं दुखी रहूँ, तो मेरा दुःख सारी सृष्टि मिल करके नहीं मिटा सकती है। लेकिन अगर मैंने देखने की वासना का त्याग कर दिया, निर्वासना को स्वीकार लिया तो सदा के लिए मुक्त हो गए। फिर तो आँखों की जरूरत ही नहीं रही। रोशनी है कि नहीं है कोई बात ही नहीं है। है तो काम आ गई, अरे नहीं है तो नहीं सही अपने को कोई चिंता ही नहीं है।

एक बार ट्रेन में बैठे थे स्वामी जी महाराज, अकेले ही यात्रा किया करते थे। तो एक सज्जन कहने लगे कि बाबा जी आपकी आँखों से

दिखता तो है ही नहीं है । अकेले आप सफर कर रहे हैं, तो स्टेशन आएगा तो गाड़ी में से उतरिएगा कैसे ? आपके पास आँखें तो है ही नहीं । तो स्वामी जी महाराज एकदम ही हल्के से और बहुत सच्ची बात उनको सुना दी, अरे भैया तेरी आँखें कब काम आएँगी किसी के ? एक शरीर में आँखें नहीं हैं तो अनेकों शरीरों में आँखें हैं । तो जिन शरीरों में आँखें हैं वे अगर नेत्रहीन के काम नहीं आई तो किस काम की हैं । तो बताते थे कि वे सज्जन इतने शर्मा गए, ऐसे लज्जित हो गए कि फिर तो कुछ कहना ही नहीं पड़ा । पकड़ करके नीचे उतारा भी, जहाँ मुझे जाना था उधर पहुँचाया भी । टिकट खरीदकर भी लाकर हाथ में पकड़ाया, अगली ट्रेन में बैठा कर तब गए । तो व्यक्तिगत ममता को छोड़ दो तो सारी सृष्टि एक है । एक शरीर में एक तरह की कमी है तो दूसरे शरीर द्वारा उसकी पूर्ति होती है । लेकिन व्यक्तिगत शरीर का अभिमान लेकर भी बैठो, प्राप्त सामर्थ्य से सुख भोगना भी पसंद करो तो आया हुआ दुःख तुमको अधीर जरूर बनाएगा । तो सुख-दुःख से अतीत का जो परमानन्दमय जीवन है, उस जीवन से अभिन्न होने के लिए प्राप्त सुख-दुःख का सदुपयोग करना, यह सबसे बढ़िया उपाय है ।

मैं ब्रह्म हूँ , मैं निराकार हूँ, मैं निर्विकार हूँ, मैं ऐसा हूँ एक चिंतन की पद्धति भी चलती है । मैंने सुना है कि इस प्रकार का चिन्तन करते-करते, करते-करते वृत्ति तदाकार हो जाती है । जाने कैसे-कैसे लोग बताते हैं उसका मुझको ज्ञान नहीं है । उस प्रणाली में प्रवेश करके मैंने देखा नहीं है कि कैसा होता है लेकिन ऐसा सुना है । तो उसके लिए मुझको कुछ मालूम नहीं है परन्तु सर्वसाधारण एक मनुष्य जो सुख-दुःख के प्रभाव से प्रभावित है, जो सुख-दुःख के कारण से अपने को बँधा हुआ, फँसा हुआ पाता है । इस कोटि का व्यक्ति अगर सुख-दुःख से अतीत के जीवन से अभिन्न होना चाहता है तो सारे विधि-विधान को अलग रखकर के उसको बिल्कुल इस Practical (व्यावहारिक) साधना में लग जाना चाहिए ।

सुख मालूम होगा तब हम उसको बाँटने की सोचेंगे और दुःख सामने आएगा तब हम त्याग को अपनाएँगे तो सुख और दुःख दोनों साधन-सामग्री हैं, ऐसा स्वामी जी ने बताया। जैसा कि हम लोग मानते हैं कि भई मैंने पुण्य कर्म किया था तो हमारे सामने सुख आ गया और मैंने अपराध किए थे तो मेरे सामने दुःख आ गया। ऐसा होता होगा यह भी बात बहुत प्रचलित है स्थापित है, इसको भी ना कहने का मेरा साहस नहीं है लेकिन स्वामी जी महाराज ने मानव-जीवन के मंगलमय विधान को सामने रखा तो उसके अनुसार यह बताया कि प्रकृति के विधान पे सुख-दुःख व्यक्ति के सामने उसके उत्थान के लिए आता है। तो सुख आता है, तो उदार बनाने के लिए आता है। यह भी आदमी के भीतर एक शौक होता है, शुभ संकल्प होता है कि हमारे पास कुछ सामर्थ्य हो तो हम दूसरों के काम आएँ। तो उदारता को बढ़ाने के लिए प्रकृति ने मेरे सामने अनुकूलता को भेज दिया और अनुकूलता को लेकर उदारतापूर्वक मैंने हृदय की सीमा को बड़ा नहीं किया तो हमारे हित के लिए अनुकूलता चली गई और प्रतिकूलता आ गई। तो प्रतिकूलता आने से अपने को भाग्यहीन नहीं मानना चाहिए।

यह भाग्यहीनता का लक्षण नहीं है यह तो केवल मुझको सजग बनाने के लिए आया, सचेत बनाने के लिए आया। एक रोगी व्यक्ति से मिलने गए महाराज जी तो वह अधीर होकर के रोने लगा कि महाराज जी हम क्या बताएँ अब तो हम बिस्तर में पड़े हैं, अब कैसे यह करे, तो खैर दुखी के हृदय से संत का हृदय द्रवित होता ही है लेकिन उन सज्जन को उत्तर देने में स्वामी जी ने बड़ी जोरदार झिड़कियाँ दी उनको कि भला आदमी बिस्तर में लेट कर रो रहा है, झींक रहा है, भाग्य की आसक्ति को छोड़ नहीं सकता। तपस्या करने का अवसर दे दिया प्रकृति ने। बेकार को रो रहा है। खूब कसके डाँट लगा दी। हम लोग सब सुनते रहे।

उनका ऐसा ही मानना है कि अनुकूलता आने पर यदि हम अनुकूलता की दासता को छोड़कर के, सुख की दासता को छोड़ करके उसको वस्तुत: साधन-सामग्री मान करके हृदय को उदार बनाने में न लग जाएँ, चित्त को शुद्ध करने में न लग जाएँ। वस्तुओं को संग्रहित करने की मनोवृत्ति को बदल न डालें, वितरण करने का आनन्द न लें, दुखियों के दु:ख में भाग लेने का अवसर न लें, तो हमारी इसी जड़ता को तोड़ने के लिए अनुकूलता प्रतिकूलता में बदल जाती है। तो इस तरह से प्रतिकूलता का अर्थ हम लेंगे, तो अपने लिए बड़ा हितकारी होगा। पहली बात तो यह होगी कि अपने को भाग्यहीन समझने का दु:ख मिट जाएगा। बड़ा भारी दु:ख होता है। एक तो धन चला गया तो तरह-तरह की कठिनाई पैदा हो गई फिर भीतर-भीतर अपने को भाग्यहीन समझने लगे तो और दिल टूट गया। धन के घटने से उतना दु:ख नहीं होता और अपने को भाग्यहीन मानने से बड़ा दु:ख होता है। दोनों तरह की बातें खत्म हो जाती हैं। तो सुख-दु:ख से पार जिसको जाना है उसको क्या करना चाहिए कि प्रतिकूलता आ जाए, किसी तरह का कष्ट अपने पर आ जाए तो शान्ति पूर्वक बैठ करके धीरज से व्यावहारिक स्तर पर उसका प्रतिकार सोचो कि ऐसी कठिनाई आ गई तो अब कैसे करना चाहिए और आन्तरिक स्तर पर अध्यात्म दृष्टि से उसका सदुपयोग करना है। जिस अंश में यह आ गया है, उस अंश में मुझे त्यागी होना है, त्याग करके सचेत हो करके रहना है और आस्तिकता की दृष्टि से प्यारे प्रभु की कृपा का दर्शन करो।

और कभी-कभी मैं जब घबराती हूँ तरह-तरह की बातें जीवन में होती ही रहती हैं। तो कभी-कभी मैं जब घबराती हूँ तो पहले तो पुरानी आदत के अनुसार बुद्धि काम करने लगती है। तो सोचने लगती हूँ कि अब कैसे करना चाहिए, अब कैसे करना चाहिए। थोड़ी देर के बाद याद आता है कि अरे भई सर्व समर्थ अपना मालिक भी तो है उसकी शरण में

रहने वाले को सारी जिम्मेदारी अपने पर नहीं लेनी चाहिए। तो फिर पूछने लगती हूँ कि महाराज अब बताओ इस प्रतिकूलता के द्वारा आप मुझे क्या सिखलाना चाहते हो ? तो बैठ जाती हूँ। तो बड़ा आनन्द आने लगता है, शान्ति आने लगती है। तो सोचने लगती हूँ कि महाराज मुझे बताइए तो, मेरी समझ में नहीं आ रहा कि इस प्रतिकूलता के द्वारा आप कौन-सा पाठ मुझे पढ़ाना चाहते हैं। तो अगर उनकी याद आ गई, उनकी सामर्थ्य याद आ गई, उनकी महिमा याद आ गई, उनके संरक्षण में मैं हूँ यह बात याद आ गई तो फिर कठिनाई का भार अपने पर रहता कहाँ है ? ऐसा मजा आ जाता है, इतना हल्कापन आ जाता है जैसे कि कभी कुछ हुआ ही नहीं।

यह आस्तिकता की दृष्टि से है दुःख के सदुपयोग की बात। तो ऐसे आप यहीं से शुरू करिए। छोड़ दीजिए देह की असंगता को, छोड़ दीजिए और ऊँची-ऊँची बातों को यहीं से शुरू करिए, कि मुझे देहातीत जीवन से अभिन्न होना है, तो संसार में आने वाली अनुकूलता और प्रतिकूलता का सदुपयोग करना है। इतनी बढ़िया साधना है और इस प्रकार से निरन्तर चलने वाली है कि इसके समान और दूसरी कोई प्रणाली आपको नहीं मिलेगी। देहातीत जीवन का चिन्तन करो कि मैं शरीर नहीं हूँ , शरीर मेरा नहीं है, इस सत्य को अपने में स्थापित करो। बहुत-सी बातें हैं, बहुत उपाय ऋषियों मनिषियों ने बताए हैं लेकिन चौबीस घण्टे में से घण्टे दो घण्टे के लिए बैठ करके हम विशेष प्रकार का चिन्तन करेगे, विशेष प्रकार की धारणा करेंगे, विशेष प्रकार की स्वीकृति करेंगे और घण्टे दो घण्टे की साधना करके उठेंगे तो फिर जैसे रहते हैं वैसे रहेंगे। अगर ये भ्रम अपने में है, तो कभी भी सुख-दुःख के पार पहुँचना सम्भव नहीं होगा।

मानव सेवा संघ के प्रणेता संत ने मनुष्य के स्वभाव को, उसके व्यक्तित्व को, उसके जीवन के दर्शन को, उसकी आस्तिकता को दृष्टि में

रखकर के हम लोगों को साधना बताई। जब कभी इस तरह की चर्चा होती है और मैं कहती हूँ कि भाई ऐसे-ऐसे उपाय करने से यह काम बनेगा तो लोग सोचते हैं कि यह तो व्यवहार की बात हो गई कि सुख आएगा तो उसको बाँटेंगे और दुःख आएगा तो दुःख में त्याग करेंगे। तो यह तो व्यवहार की बात हो गई तो साधना के रूप में तो कुछ बताया नहीं मानव सेवा संघ ने। तो सब सुनने के बाद कभी-कभी तो ऐसा मेरा दिल बैठ जाता है, घण्टा भर खूब जी-जान लगा करके कोशिश करके जितनी सच्ची बात मुझे मालूम हैं, परिश्रम पूर्वक सुना देती हूँ। बहुत लोग बहुत प्रसन्न होकर उठकर चले जाते हैं। चलते समय कोई-कोई आकर कहेंगे कि बहनजी अब क्या करें, कोई साधना भी बता दो। बस मेरी हिम्मत हार जाती है, ठण्डा हो जाता है सब जोश। अरे बहन जी इतनी देर तक घण्टे भर मैंने आपको सुनाया तो सुनाया क्या? जो मैंने सुनाया वह साधना नहीं है क्या?

तो बड़ा एक अजीब तरह का विचार फैल गया है समाज में कि साधना माने कोई विधि-विधान जो घण्टे दो घण्टे के लिए बैठ कर विशेष रूप से विशेष स्थान में विशेष प्रकार से करो तो उसका नाम साधना है। और जो तुम्हारे सम्पूर्ण जीवन को बदल डाले, कभी भी जिससे अपना साथ छूटे ही नहीं, उसको पता नहीं क्या मानते हैं?

अब सोच कर देखो कितनी बड़ी बात है। अगर सुख की दासता से मुक्त होना है तो सदैव आए हुए सुख को बाँटने के लिए तैयार रहो। यह साधना घण्टे दो घण्टे की है कि हमेशा की है? हमेशा की है। तो साधना जब अखण्ड होगी तभी न आपके अहम् का परिवर्तन कर सकेगी, नहीं तो कैसे करेगी? एक विदेशी महिला वृन्दावन आश्रम में आई, बहुत दिनों तक रही कुछ दिन माँ के यहाँ भी रही, कुछ दिन कहाँ रही, कहाँ रही। ऐसा होता रहा। तो उस महिला के मुख से मैंने सुन लिया।भारत में ही खास करके वृन्दावन में ही लोगों ने बताया होगा।

कोई उसको बढ़िया तरह से खाना खिला दे, तो वह बड़ी प्रसन्न होकर के कहे कि परमात्मा कितने दयालु है, बड़ी कृपा है उनकी। कोई उसके पसंद के लायक कपड़े लाकर पहना, दे तो बहुत आनन्दित हो जाए कितने दयालु हैं। और वह रहना चाहती थी यहाँ । Indian Government ने उनको यहाँ रहने नहीं दिया। पूछा गया कि किसलिए रहना चाहती है, कैसे क्या है? उनसे Interview लिया गया तो मालूम हुआ कि वे सुख-सुविधा बहुत पसंद करती है तो expert लोगों ने अपना विचार दे दिया सरकार को, सरकार ने उनको विदा कर दिया। तो कृपालुता, दयालुता जो भगवान की उन पर जमी हुई थी, सब खत्म हो गई बहुत दुखी हो गई, अधीर हो गई और चली गई।

तो आस्तिक होने के नाते आप सोचकर देखिए। अनुकूलता की घड़ी में अपने को प्रभु की कृपालुता का दर्शन होता है और जब वे परमहितकारी मेरे हित के लिए, मुझको सचेत बनाने के लिए, मुझको और अधिक कड़ी कसौटी पर कसने के लिए जब प्रतिकूलता के रूप में दर्शन देते हैं, तो आदमी घबरा जाता है। हाय भगवान ने ऐसा नहीं किया, हाय भगवान ने यह भी नहीं किया, हाय भगवान ने यह भी नहीं सुना। तो वे तो जैसे हैं वैसे हैं। मेरी तरह-तरह की भावनाओं से उनके स्वरूप में कोई फर्क नहीं आता और उनका जो एक अपने-पन का सम्बन्ध है हम लोगों के प्रति, उसमें कोई घाटा नहीं आता। वे अपनी तरफ से वैसे ही रहते हैं हमेशा लेकिन अपनी आस्तिकता की जाँच तो करो कि कहाँ तक हम आस्तिक हैं। अगर प्रतिकूलता आ गई और आस्तिकता के सत्य पर हम सब लोग अपने को सुख-दुःख के पार पहुँचाना चाहते हैं, तो उस प्रतिकूलता में भी कृपालु की कृपा का दर्शन नहीं करना चाहिए? जी करना चाहिए। तो उन पर आस्था अगर जम जाती, उनकी सामर्थ्य पर आस्था जम जाती, उनकी मंगल कारिता पर आस्था जम जाती, तो आई हुई प्रतिकूलता अपने

को खटकती नहीं। तो मुझे खटके नहीं ऐसा तो नहीं होता है दुःख तो लग जाता है लेकिन जब चेतना आती है, तब मैं इन्तजार करती हूँ बैठ कर प्रतीक्षा करती हूँ कि महाराज किसी भी तरह से मुझे सुझाइए तो सही कि यह किसलिए ऐसा वेश बनाया आपने, किसलिए यह परिस्थिति बनाई, इसमें मुझको क्या करना चाहिए? ऐसे संभाषण की तरह ध्वनि तो नहीं सुनाई देती है। कुछ साधक मुझसे पूछने लग जाते है आपने सुना क्या? आपको बताया क्या? कितने विविध प्रकार के साधक होते हैं कुछ कहा नहीं जा सकता। सो तो नहीं होता है लेकिन वे अंतःवासी, अन्तर्यामी, सर्वज्ञ परमात्मा किसी न किसी रूप में रास्ता खोल ही देते हैं, हमें प्रकाश मिल ही जाता है कि अच्छा, ऐसी प्रतिकूलता मेरे सामने आई तो क्यों आई और इसके द्वारा मुझकों किस स्तर से वे मंगलकारी प्रभु और ऊपर उठाना चाहते हैं। यह बात अपने को मालूम हो जाती है और ऐसा करने का बल भी आ जाता है और आई हुई कठिनाई पर से दृष्टि भी हट जाती है।

मंगलमय प्रभु की मंगलकारिता पर दृष्टि चली जाती है तो आनन्द भी भर जाता है और बहुत बार तो परिस्थिति भी बदल जाती हैं। महाराज जी ने कई बार इस बात का पूरा जोरदार विश्वास दिलाया है कि भैया तुम बदल जाओगे, तुम्हारी दृष्टि बदल जाएगी तो सृष्टि भी बदल जाएगी यह भी कहा है कि तुम्हारी दृष्टि बदल जाएगी तो सृष्टि भी बदल जाएगी। क्योंकि उनके संकल्प के बिना उनके संकेत के बिना तो एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। तो प्रतिकूल बन करके मेरे सामने कोई खड़ा हो गया है और मेरे हृदय में आस्तिकता है, मेरे जीवन में आस्तिकता है, प्रभु की मंगलकारिता में विश्वास है तो जहाँ उस पर दृष्टि गई नहीं तो उनको किसी को भी सद्प्रेरणा देने में क्या देर लगती है? जरा-सा इधर से उधर हुआ, बस बदल गई। तो परिस्थिति भी बदल जाती है, आदमी भी बदल जाता है। सामने वाले का भाव और विचार भी बदल जाता है, बहुत सी बातें हो जाती हैं।

हम लोग कार में बैठकर यात्रा कर रहे थे, थोड़े दिन पहले की बात है तो बड़ी तेजी से गाड़ी चल रही थी और ऐक्सीडेंट हो गया गाड़ी का कुछ नहीं हुआ लेकिन एक आदमी को बुरी तरह से चोट लग गई। बस, हम तो एकदम घबरा गए गाड़ी जिसकी थी वे खुद ही हाँफ रहे थे। नए आदमी थे, युवक थे बिल्कुल 1–1 ½ साल पहले विवाह हुआ था उनका, इंजीनियर थे तो वे भी नर्वस हो गए होंगे ऐसा मैंने अन्दाज लगाया और डर लगा मुझे कि ये घबराकर और 2-4 accident न कर दें।

तो घबराहट में और कोई दूसरा उपाय तो था नहीं। हे दीन बन्धु, हे दीन बन्धु जितने लोग थे हमारे साथ, सब चिल्लाने लगे। 5 जने हम लोग थे 2 मानव सेवा संघ के कार्यकर्त्ता युवक लोग वे लोग मुझको पहुँचाने जा रहे थे और तीन जने हम लोग थे सो पाँचों चिल्लाने लगे, हे दीन बन्धु हे दीन बन्धु। उसको हम लोगों ने धीरे से कहा कि भैया घबराओ मत तुम गाड़ी चलाते ही चलो, रुको मत। नर्वस हो गया रोकने लग गया कि अब कुछ करना चाहिए तो हमने कहा कि चुपचाप तुम चलाते जाओ। सामने ही लोगों ने देखा कि स्त्री-पुरूष सड़क के किनारे-किनारे ईंट के पत्थर के टुकड़े जमा किए रहते हैं सड़क बनाने के लिए ढ़ेर लगा था और वहाँ कुछ लोग खड़े थे और हाथ में इतना-इतना पत्थर उठा कर वे लोग खड़े थे गाड़ी को मारने के लिए। हम ने कहा कि गाँव के लोगों ने यहीं पर टण्टा किया कि अब पार नहीं होने देंगे तो अब उपाय क्या? हे दीन बन्धु हे दीन बन्धु सब पुकारते रहे।

खूब एक स्वर से पाँचों पुकार रहे थे और मैंने देखा कि वे लोग निशाना लगा-लगाकर क्रोध के आवेश में आकर पत्थर लेके खड़े थे। सामने से गाड़ी निकली और किसी ने पत्थर डाला नहीं, हो गया। ऐसा होता है। सुख-दुःख के पार जाना बहुत बढ़िया बात है। और सचमुच

ऐसा न हो तो अविनाशी जीवन का कोई अर्थ ही नहीं निकलता, साधना और सत्संग का कोई अर्थ ही नहीं निकलता। ऐसे उच्चतम जीवन पर जिसकी दृष्टि जम जाए, उसको अपनी वर्तमान दशा को देख करके वहीं से आरम्भ करना चाहिए। और बाहर की कठिनाइयों में आकर के जैसे ही हम दीन बन्धु को पुकारते हैं, करुणा सिंधु को पुकारते हैं, उसी तरह से भीतर में भी कठिनाई आने पर आस्तिक अगर आप हैं तो उन परम कृपालु को याद करिए, उनकी कृपालुता की आवश्यकता अनुभव करिए, तो वे भीतर ही कठिनाइयों से ऐसे ही पार करते हैं। जैसे कोई बहुत बड़ी अनुकूलता अपने सामने आ गई, सुख अपने सामने आ गया और उसको छोड़ने में भीतर फिर दुर्बलता लग रही है। मौके आते हैं, जबकि सुविधा को आदमी पसंद कर लेता है तो व्यवहार के आदर्श को छोड़ देता है।

ऐसा हो जाता है कभी-कभी तो ऐसी संकट की घड़ी आए कि समझ में आए कि सत्य तो यह है और सुविधा यह है, तो विचार यह कहे कि सत्य का अनुसरण करते जाइए और सुख की दासता खींच ले सुविधा की ओर, तो इस प्रकार का द्वन्द भी जब व्यक्ति के भीतर पैदा हो तो मैंने ऐसी कठिन घड़ियों में भी उन कृपालु की कृपा का प्रभाव देखा है। बाहर की कठिनाइयों को पार करना, यह तो अनेकों के जीवन में अनेकों प्रकार से होता रहता है। उससे ज्यादा महत्त्वपूर्ण भीतर के द्वन्द्व को मिटाने में उनको पुकारना। अपने भीतर का जो द्वन्द है उसका पता अपने को चलता है कि नहीं चलता है ? चलता है। विवेक के प्रकाश में दिखाई देता है, कि सही बात यह है और सुख-सुविधा के आकर्षण में लगता है कि अगर इस सही बात का अनुसरण किया तो सुख-सुविधा चली जाएगी तो द्वन्द में पड़ जाता है आदमी।

ऐसे अच्छे-अच्छे उदाहरण और प्रत्यक्ष चित्रण मनोविज्ञान में व्यक्ति की द्वन्द्वात्मक स्थिति के हैं कि एक बार सत्य का प्रकाश जोर मारता है तो व्यक्ति उसकी ओर झुकता है और फिर उसकी सुविधा चली जाएगी तो कष्ट सहन करना मुश्किल लगता है, तो कहता है अच्छा रहने दो। ठीक है यह तो सिद्धान्त की बात है व्यवहार तो कुछ इससे अलग भी हो सकता है, तब इधर की ओर झुकता है तो ऐसे जब भीतर में द्वन्द्व हो कि कभी-कभी जी चाहे कि अरे रहने दो, छोड़ दो उसको। सुविधा-पूर्वक दिन कट रहे हैं कौन संकट में पड़े। और कभी ऐसा लगे कि अरे भई अपने तो साधक हैं हमको तो सुविधा के पीछे नहीं जाना चाहिए हमें तो सत्य का पल्ला पकड़ना चाहिए तो इधर की ओर लगे।

तो इस तरह की जब भीतर में दुविधा है किसी भी साधक में और सबके मन में होती होगी। यह बात नहीं है कि किसी के हो किसी के न हो। साधारण स्तर के लोग हैं हम लोग। दुनिया में रहते हैं शरीर को लेकर के तो कोई अवसर ऐसा आता होगा। आपने भी इस तरह की द्वन्द्वात्मक मनोस्थिति का अनुभव किया होगा तो ऐसे कठिन संकट में भी जबकि दुविधा पैदा हो जाए भीतर, तब भी उस सामर्थ्यवान की शरण लेने से अपने को बल मिल जाता है, दुविधा मिट जाती है और सत्य का अनुसरण करने का बल आ जाता है। दोनों ही बातें होती है। तो किसी भी हालत में दुःख में किसी को घबराना नहीं चाहिए।

कठिनाइयों को साधन-सामग्री मानना चाहिए। और कठिनाइयों को साधन-सामग्री मान करके आप चलेंगे तो दिल छोटा नहीं होगा, दुर्बलता नहीं आएगी, घबराहट नहीं पैदा होगी, सही प्रतिक्रिया सूझेगी और वह दुर्बलता वह कठिनाई जो आई है वह आपको सुख-भोग से बचा करके, आपको शक्तिहीनता से बचा करके चेतना की ओर आगे बढ़ा देगी। तो

प्रारम्भिक उपाय तो यह है भाई। जो सुख-दुःख के चक्कर में पड़ा हुआ है, वह पार जाना चाहता है तो उसका यहाँ से आरम्भ करना चाहिए। और शक्ति बढ़ती चली जाएगी तो ज्ञान के पंथ का साधक होगा तो उसमें असंगता का बल बढ़ जाएगा और प्रेम-पंथ का साधक होगा तो उसमें समर्पण का बल बढ़ जाएगा। बढ़ जाएगा, रुकेगा नहीं दुर्बल से दुर्बल साधक भी। और वह जो ऐसा सोचे और भीतर यह चीज हो कि भई हम तो अब किसी न किसी प्रकार से सब तरह से उनके हुए बिना रह ही नही सकते हैं और उनके प्रेम के बिना इस जीवन को मैं सह ही नहीं सकता तो ऐसी अगर बात पैदा हो जाए, तो परमात्मा उसकी साधना की गणना नहीं करते है कि इसने कितनी साधना की ओर कितना बाकी है। और कितना पुरुषार्थ किया और कितना और चाहिए। यह हिसाब वे छोड़ देते हैं। जैसे ही आवश्यकता तीव्र हुई नहीं कि वे अपनी अहैतुकी कृपा से ही साधन को पूरा भी करा देते हैं और वे उसको सिद्धि भी दिला देते हैं, उसको विश्राम भी दे देते हैं, उसको अपनी कृपा का दर्शन भी करा देते हैं, और फिर अपनी ही महिमा से उसे अपने प्रेम का पात्र बनाकर प्रेम के आदान-प्रदान का आनन्द लेते व देते हैं, ऐसा होता है। ऐसा अनुभवी जनों का अनुभव है ।

ऐसा हम लोगों को भी अनुभव करके देखना चाहिए। स्वामी जी महाराज ने अपने पर अनुभव किया था और उन्होंने मानव सेवा संघ की प्रणाली में अमूर्त सत्य को मूर्तिमान करके एक प्रयोगशाला के रूप में मानव सेवा संघ संस्था बनाई। अनेक दुखी जीवन को इस प्रयोगशाला में डाल करके उनको दुःखरहित देखकर आनन्दित हुए। तो कोई भी कारण नहीं है कि हम सफलता से निराश हो अथवा सत्यपथ से कदम पीछे हटाएँ। ऐसा कोई कारण नहीं है।

स्वामी जी ने अपने पर भी प्रयोग किया अपना दु:ख मिटाया और हमारी तरह न जाने कितने दुखी जीवन को अपने प्रयोग में लिया, उन पर सत्य का प्रयोग किया, प्रेम का प्रयोग किया, प्रभु-विश्वास का प्रयोग किया और उनके दु:खरहित आनन्दमय जीवन को देखकर आनन्द लिया। दोनों ही प्रकार की बातें हमारी जानी हुई हैं। अत: हम में से किसी भी भाई को, किसी भी बहन को देहातीत, दु:ख-सुख से अतीत, आनन्द मय, प्रेममय जीवन से निराश नहीं होना चाहिए, कदम पीछे नहीं हटाना चाहिए। इसके लिए सरल उपाय नहीं खोजना चाहिए। अपनी वर्तमान स्थिति में सरल-कठिन जो भी सम्भव हो सब सम्भावित पुरूषार्थ अपनी ओर से पूरा करो और जितना बाकी रहेगा वह मंगलमय प्रभु अपनी ओर से पूरा कर देंगे। समय हो गया, अब शान्त हो जाइए।

प्रवचन 12

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ बहनो और भाइयो !

हम सब लोग मानव-जीवन की मौलिक समस्या का समाधान कैसे हो, इस विषय पर विचार कर रहे हैं। बड़ी समस्या, मौलिक समस्या जिसके समाधान के बाद और कोई समस्या शेष नहीं रह जाती। वह कौन-सी है ? पहली बात यह है कि जीवन में हमने दु:ख भी देखा और सुख भी देखा। दु:ख को हमने नापसंद किया, सुख को पसंद किया परन्तु आज तक एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ, जिसको केवल सुख ही सुख मिला हो दु:ख न मिला हो। तो दु:ख की निवृति मानव-जीवन की एक बड़ी समस्या है। सब प्रकार के दु:खों का अन्त हो जाए, एक बात हो गई।

दूसरी बात क्या है, कि जन्म-मरण की बाध्यता अपने को पराधीन बनाती है, विवश बनाती है। असमर्थता सताती है इस सम्बन्ध में। मरना अच्छा नहीं लगता और अगर ऐसी प्रतिकूलता आ गई कि कोई मरना ही पसंद करता हो तो वह भी उसके वश में नहीं है। जीना चाहो तो अपनी खुशी से जी न सको, मरना चाहो तो अपनी खुशी से मर न सको । इस प्रकार की पराधीनता मनुष्य के जीवन में आती है, जिसको कि वह मिटाना चाहता है, पसंद नहीं करता है।

तो पराधीनता हमारी कैसे मिटे, यह एक मौलिक समस्या है। और तीसरी बात है प्रेम-पक्ष की। जीवन में रस का घट जाना, नीरसता का भर जाना किसी मनुष्य को पसंद नहीं है। तो क्या चाहिए अपने को ? तो ऐसा जीवन चाहिए ऐसा जीवन चाहिए जिसमें किसी प्रकार का दु:ख न हो ? तो दु:खरहित जीवन की माँग है, परम स्वाधीनता की माँग है, सरस जीवन की माँग है। और इन्हीं बातों को लेकर हम सब लोग अपने को साधक स्वीकार करते हैं और सत्संग के प्रकाश में आगे बढ़ना चाहते हैं। भूल

क्या हो गई, क्यों हमें दुःख को सहन करना पड़ता है? तो इसलिए जो अपना होकर सदा के लिए रह नहीं सकता, उसको हमने अपना माना। इसको मानव सेवा संघ की भाषा में कहा जाता है विवेक-विरोधी सम्बन्ध। जो सदा के लिए अपना होकर नहीं रह सकता, उसको अपना मान लेना बहुत बड़ी भूल है।

इसी भूल से हमें संयोग में सुख मालूम होता है तो संयोग के साथ वियोग में बड़ा भारी दुःख मिलता है। विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि जो भी कोई व्यक्ति संयोग-जनित सुख को पसंद करेगा, उसे वियोग-जनित दुःख लेना ही पड़ेगा। कोई उपाय नहीं है कि उससे वह बच सके। तो करना क्या चाहिए? विवेक के प्रकाश में जीवन की घटनाओं का अध्ययन करना चाहिए और यदि अपने को यह बात स्पष्ट रूप से मालूम हो जाती है कि जो सदा के लिए अपने साथ नहीं रह सकता, उसको अपना मानना भूल है। यह बात अगर मालूम हो जाती है, तो इस भूल का निवारण करना चाहिए अर्थात्, इसका त्याग करना चाहिए। तो जानी हुई भूल का त्याग करना विकास का एक महामंत्र है।

बहुत बड़ी बात है। आपने और दूसरी-दूसरी साधन-प्रणालियों के बारे में भी सुना होगा, ऐसे साधन करो, ऐसे साधन करो। स्वामी जी महाराज ने साधन करने की बात नहीं कही। स्वामी जी महाराज ने कहा सत्संग करो। तो सत्संग करने से साधन अपने आप होगा। अर्थात् अपनी जानी हुई भूल का त्याग करो तो निर्भूल जीवन में शान्ति की अभिव्यक्ति होगी। निर्भूल जीवन में दुःखों की निवृत्ति होगी। तो इस तरह से अपने लोगों को बहुत ही सामान्य ढंग से जीवन का आरम्भ करना है। निज विवेक के प्रकाश में अपना अध्ययन करना, यह मानव सेवा संघ का पहला नियम है। अपने आप को अपने विवेक के प्रकाश में देखिए और विवेक के प्रकाश में देखकर अपनी जो भूल मालूम होती हो, उस को छोड़िए तो

ऐसी साधना दुर्बल-सबल, धनवान-धनहीन, बहुत पढ़ा-लिखा और बेपढ़ालिखा सबके किए यह सम्भव है।

इसमें बाहरी योग्यता और सामर्थ्य की आवश्यकता नहीं है। विवेक का प्रकाश मनुष्य के साथ जन्मजात है। जिन्होंने हमें जन्म दिया, जिन्होंने हमें जीवन प्रदान किया, उन्होंने विवेक का प्रकाश आरम्भ से दिया ही है। उसी विवेक के प्रकाश में अपने को देखना और की हुई भूल को पुनः न दोहराना बहुत स्वाभाविक बात अपने लिए हो सकती है। तो यह एक उपाय है, जहाँ से हम जीवन में उत्थान आरम्भ करते हैं। तो दुःख-रहित जीवन मिले, इसके लिए अपने को इस ढंग से आगे बढ़ना चाहिए। पराधीनता का नाश कैसे हो? तो है तो बहुत बड़ी बात मुझमें, मैंने अनेक प्रकार के संकल्पों को रखा तो संकल्पों के परिणाम से मुझे शरीर धारण करना पड़ा। प्रकृति के विधान ने उदारता पूर्वक मुझे शरीरधारी बनाया।

किसलिए कि जिन संकल्पों को लेकर मुझे जन्म लेने के लिए बाध्य होना पड़ा है, उन संकल्पों का त्याग करके निःसंकल्प होकर जन्म-मरण की बाध्यता को मिटा सकें। तो जगह-जगह पर ऐसा वचन है महाराज जी का, कि भई अब सोच के देखो तो सही। आज हम लोग बैठे हैं, सब अपनी-अपनी उम्र का हिसाब लगा लो। किसी का कितना बीता किसी का कितना बीता और फिर ऐसा सोचिए कि जिन संकल्पों को रखने से मुझे जन्म लेने के लिए बाध्य होना पड़ा और जितनी बड़ी जिन्दगी हमने बिताई, उसमें कमाया क्या? क्या उन संकल्पों का त्याग हमने कर दिया? आज क्या स्वयं अपना जीवन निःसंकल्प हो गया? ऐसा पूछिए और लगता है, कि अभी तक निःसंकल्पता नहीं आई है, तो फिर लम्बी जिन्दगी बिता करके अर्थ क्या निकला? अर्थ यही निकला कि संकल्पों को लेकर पैदा हुए थे, उन्हीं संकल्पों को रखे रहेंगे तो शरीर में से प्राण-शक्ति का

ह्रास हो जाएगा, शरीर का नाश हो जाएगा और वह चक्र ज्यों का त्यों चलता रहेगा।

शरीरों के नाश से केवल स्थूल शरीर का नाश होता है, सूक्ष्म शरीर का नाश नहीं होता है। मन का नाश नहीं होता और जो अतृप्त इच्छाएँ है और अनेक संकल्प हैं, वे मृतक प्राणी के साथ रह जाते हैं। स्थूल शरीर के नाश होने के बाद भी फिर क्या होता है ? उन्हीं संकल्पों से प्रेरित होकर पुनः शरीर धारण करना पड़ता है। यह विचार ऐसे तो अपनी परम्परा में हम लोगों को पहले ही से मालूम है। एक बिल्कुल भिन्न परम्परा के विचारक के साहित्य में पढ़ा मैंने। ख़लील जिब्रान एक बड़े दार्शनिक हो गए। उनके देश का नाम अब मैं भूल गई हूँ। तो उनके साहित्य में पढ़ा मैंने। विदाई की घड़ी में अर्थात् शरीर-त्याग करने के समय वे सत्संगी नगर निवासियों से बात कर रहे थे। तो बात करते-करते कहने लगे कि देखो भई, अगर हमने यहाँ पर, संसार में रहकर दुनिया में रहकर अपना काम पूरा कर लिया है, तो बहुत अच्छी बात है। बहुत शान्ति में हम रहेंगे और अपना काम हमने पूरा नहीं किया है, तो मेरी इच्छा-शक्ति पुनः मिट्टी-पानी इकट्ठा करेगी और फिर हम यहाँ आ जाएँगे। तो मुझे इतना आश्चर्य हुआ, मैं सोचा करती थी कि पुर्नजन्म की बात केवल अपनी ही परम्परा में है। ऐसा मैं सोचती थी। लेकिन उस साहित्य को पढ़ कर ऐसा लगा कि कोई भी विचारक, कोई भी दार्शनिक जिसको जीवन के सत्य का कुछ अनुभव हुआ है, वह इस बात को जानता है।

तो आज इस सन्ध्या-काल की इस बैठक में इसी विषय पर विचार कर लीजिए पूरा। हम लोगों ने पैदा होने के बाद से बहुत योग्यता भी सम्पादित की, बहुत प्रकार के काम भी किए, बहुत परिश्रम भी किया, कुछ सुख भी पाया, कुछ दुःख भी पाया। और आए थे बिल्कुल अकेले, नंग धड़ंग दुनिया में पैदा हुए थे और बहुत कुछ सामान अपने पास अब इकट्ठा

हो गया है, बहुत मित्र हो गए हैं, बहुत परिचित हो गए हैं, बहुत सम्बन्धी हो गए और अब धीरे-धीरे ढलान की ओर चल रहे हैं।

अब यह दशा हो रही है। अब क्या है, कैसे दिखाई देता है। तो जैसे उस एक लेखक की बात में गुनगुनाती हूँ कभी-कभी, याद आ जाता है मुझे। I mean the peak highest peak of my life and now onwards there are down slopes on every side. तो down slope every side दिखाई दे रहा है। अब सब तरफ से गिरावट आरम्भ हो गई है। अब भी सोच विचार कर देखिए, दुनिया में इतना हमने जो कुछ किया, उस करने-धरने का परिणाम अब अन्तिम घड़ी में क्या मिलेगा? अगर संकल्पों का त्याग नहीं किया, अगर निःसंकल्प नहीं हुए, निर्मम, निष्काम नहीं हुए तो क्या होगा? जिन संकल्पों को लेकर पैदा हुए थे, उन्हीं संकल्पों को लेकर शरीर का नाश हो जाएगा, तो उस संकल्प से प्रेरित हो करके फिर शरीर धारण करना पड़ेगा और इसी क्रम को पुनः पुनः दोहराना पड़ेगा।

बात समझ में आती है यह? जी! अब सोचो तो ऐसे देखने से बड़ी धूम-धाम लगती है कि हम बड़े कर्मठ हैं, कि हम बड़े सेवक हैं, हम बड़े गुणवान हैं, हम बड़े विद्वान हैं, हम बड़े श्रीमान हैं। ऐसे तो बाहर से बहुत धूमधाम लगती है लेकिन सचाई की दृष्टि से देखा जाए तो इन सारे वैभव में और धूमधाम के भीतर सचमुच में अपने को कुछ उपलब्ध हुआ क्या? अगर ऐसा विचार करेंगे तो लगता है कि निःसंकल्पता नहीं आई, शरीर धारण करने की आवश्यकता खत्म नहीं हुई, शरीर के माध्यम से संसार का सुख भोगने की वासना का अन्त नहीं हुआ, तो क्या हुआ फिर? जी, कुछ नहीं हुआ और दूसरी एक ओर बात है। स्वामी जी महाराज के मुख से भी मैंने सुना है और दूसरे संतों के मुख से भी सुना है कि केवल इतना ही नहीं है कि निःसंकल्पता नहीं आने से, संकल्पों का त्याग न करके,

शरीर और संसार से सम्बन्ध नहीं तोड़ने से फिर से जन्म लेना पड़ेगा, फिर सब प्रकार के सुख-दुःख का भोग करना पड़ेगा, फिर मरना पड़ेगा इतना ही नहीं है।

इसके भीतर एक और रहस्य है। और वह रहस्य यह है कि अनुभवी संतजन यह बताते हैं कि इस बार जो हम लोगों को परिस्थितियाँ मिली, जैसा शरीर मिला, जितनी समझ-बूझ मिली, जितनी चेतना मिली यह सब लेकर के अगर निर्मम, निष्काम होना, निःसंकल्प होना और जन्म-मरण की बाध्यता को छोड़कर स्वाधीन होना इस दिशा में अगर हमने कदम आगे नहीं बढ़ाया तो आगे इतनी सामर्थ्य भी मिलेगी कि नहीं मिलेगी। इतनी चेतना भी नहीं रहेगी, इतनी परिस्थितियाँ भी नहीं मिलेगी। घट जाती है। महाराज जी ने बारम्बार इस वाक्य को दोहराया है और उनके साहित्य में भी लिखा है कि प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं करोगे तो परिस्थिति बदल जाएगी।

प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करोगे, तो सामर्थ्य घट जाएगी और ऐसी ही चर्चा एक बार हो रही थी बलरामपुर में और मैं यूँ ही बोल रही थी। सत्संग-सप्ताह हो रहा था, तो महाराज जी के साथ एक दूसरे संत भी बैठे थे, सुन रहे थे। जब मेरा बोलना खत्म हो गया, बहुत प्रसन्न हो गए। बेटा खूब बोलो, खूब कहो, खूब बताओ ऐसा करके प्यार देने लगे, आशीर्वाद देने लगे और उसके बाद कहने लगे कि बात बिल्कुल सही है अगर आज इस वर्तमान में जितनी चेतना है, जितनी शक्ति है उसका सदुपयोग करके अविनाशी स्वाधीन जीवन की ओर आगे नहीं बढ़ जाएगा तो घुन लग जाएगी। धुन उनकी अपनी भाषा है, उसका अर्थ यह था कि जड़ता बढ़ जाएगी, मानवता घट जाएगी, पशुता बढ़ जाएगी ऐसा उन्होंने कहा। और भी एक दार्शनिक प्रणाली जो महाविद्यालय में पढ़ाई जाती थी हमारे समय में, उसमें भी इस तरह की बात आई थी। तो ऐसी

भी यह बात सूझती है अपने को कि अपने पास सचमुच अपना करके कुछ नहीं है।

विवेक का प्रकाश है, वह भी अनन्त प्रकाशवान में से आ रहा है। हृदय में प्रेम का भाव है, तो प्रेम का भाव भी हम लोगों ने किसी फैक्ट्री में उपजाया नहीं है, दूकानों से खरीदा नहीं है, अपना बनाया हुआ नहीं है। वह भी जो संसार का बनाने वाला है, वह भी जो सृष्टि का मालिक है, उस प्रेमस्वरूप परमात्मा में से ही यह प्रेम का भाव भी अपने पास आया है। और कुछ करने की सामर्थ्य अपने पास है, तो वह भी अनन्त सामर्थ्यवान परमात्मा में से ही अपने को मिला है। तो विवेक का प्रकाश एक मौलिक तत्त्व है, जो हर व्यक्ति के साथ है। प्रेम का भाव एक अविनाशी तत्त्व है, जो हर व्यक्तित्व में विद्यमान है।

और कुछ न कुछ करने की सामर्थ्य सबके पास है, वह भी अनन्त सामर्थ्यवान का ही है। तो सच पूछिए तो भौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीरों में भी हम लोगों का अपना करके कुछ नहीं है। यह सब मिला हुआ है। और विवेक का प्रकाश, प्रेम का भाव और सामर्थ्य यह सब भी जीवनदाता और जन्मदाता का दिया ही हुआ है। तो कभी-कभी मेरे ध्यान में आता है कि सचमुच जिन्होंने सृष्टि बनाई, जिन्होंने मुझे बनाया उनके दिए हुए तत्त्वों का सदुपयोग करके अपना दुःख मिटा लेना, अपनी पराधीनता मिटा लेना, अपना उद्देश्य पूरा कर लेना यह सब अपने लोगों के लिए बहुत जरूरी बात है। नहीं तो दाता ने दिया और उस पर मेरा ध्यान नहीं गया, दाता ने दिया मेरी सब समस्याओं का समाधान करने के लिए और मैंने लापरवाही की, तो दिया हुआ अवसर निकल गया, समस्या मेरी जैसे के तैसे रह गई तो इसी के लिए महाराज जी ने कहा कि अगर प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करोगे, तो सामर्थ्य घट जाएगी।

तो बात मुझको ठीक लगती है। उन संत ने कहा कि घुन लग जाएगी, तो उसका अर्थ मैंने ऐसे ही निकाला। इसलिए सत्संग में शामिल होकर हम सब लोग स्वामी जी महाराज के वचन को सुन रहे हैं और बहुत अच्छी-अच्छी बातें सामने आती हैं, जिनको सुनकर, जिनको समझ कर बहुत आराम लगता है भीतर। इसी प्रकार से यह चर्चा जब पूरी हो जाए और रात्रि के समय भोजन आदि सब जो काम जरूरी है सब खत्म करके आप अपनी-अपनी जगह पर विश्राम के लिए बैठें तो एक बार सोच करके देखिए तो सही। यह जो जीवन की यात्रा हमने पूरी की 60 की, 70 की, 80 की, 90 की या 100 बरस की और 60 से नीचे भी समझ लो तो थोड़ा भी समझ लो, वैसे भी समझ लो जिस-जिस मात्रा में भी हमने जीवन की यात्रा पूरी की उस-उस क्रम के बीच में अगर यह उद्देश्य पूरा नहीं हुआ तो फिर बहुत सजगता आती है इस बात पर ध्यान जाने से। एकदम से चेतना आती है, कि वस्तुतः अभी तो कुछ भी नहीं हुआ।

तो इच्छाओं का, कामनाओं का नाश करना, ममता को मिटाना, सब तरह के संकल्पों से निःसंकल्प होना अपने को आवश्यक मालूम होता है कि नहीं? जी, होता है। और बड़े दुःख की बात है, आप भाई-बहन तो अपना हाल आप जाने लेकिन मैं अपना हाल स्वयं जानती हूँ कि अभी भी कोई बात सामने आ जाए तो संकल्प-पूर्ति के लिए अनुकूलता हो परिस्थिति में, तो पूर्ति पर ध्यान पहले जाता है, निवृत्ति पर पीछे जाता है अगर अनुकूलता है तो, अनुकूलता न हो तो बात दूसरी है। तब भले ज्ञान के सहारे अपने को समझा कर, शान्त करके, नहीं-नहीं छोड़ो ऐसे संकल्प को रखने से कोई फायदा नहीं है। तो संकल्प दिमाग में रहेगा तो शान्त नहीं रहने देगा, भगवान् की याद नहीं आने देगा। तो समझा लो तो अच्छी बात है, बुरी नहीं है। लेकिन अगर संकल्प-पूर्ति की परिस्थिति दिख रही है, तो पहले इस बात पर ध्यान जाता है कि संकल्प पूरा हो जाए और

फिर बाद में सोच समझ कर याद आता है कि भई एक संकल्प की पूर्ति तो न जाने कितने संकल्पों को जन्म देगी तो भई उसकी पूर्ति के महत्त्व को छोड़ो, तो निवृत्ति की बात पीछे आती है, पूर्ति की बात पहले आती है।

बड़ा घाटा है, बहुत बड़ा घाटा है। इसकी जगह पर यदि हम लोग सावधान रहें किस दिशा में, तो स्वामी जी महाराज ने बहुत सहज बना दिया कि ज्यादा इसके छानबीन में मत लगे रहो। हर समय इसी के पीछे पड़े रहो, सोचते रहो तो बहुत कठिन हो जाएगा। तो उन्होंने सहज बना दिया, कहा कि परिवार में रहना हो अथवा समाज में रहना हो अथवा आश्रमों में रहना हो, चाहे कहीं भी रहो तो अगर निकटवर्ती जनसमुदाय के साथ मिलकर रहने में संकल्प उठते हैं, तो विचार कर लो कि कोई संकल्प ऐसा है, जो हमारे व्यक्तिगत सुख से सम्बन्ध रखने वाला है और कोई संकल्प ऐसा है जो सामूहिक हित से सम्बन्ध रखने वाला है इतना तो मालूम हो ही जाएगा। तो अगर अपने व्यक्तिगत सुख का संकल्प है तो उसकी पूर्ति के लिए उसका समर्थन कभी नहीं करना चाहिए साधक को।

यहाँ से हमारा काम आरम्भ होगा। अब देखिए भूखे नंगे रहने की बात नहीं है कि खाना छोड़ दो, कि कपड़ा छोड़ दो, कि घर में रहना छोड़ दो, इससे काम नहीं बनेगा लेकिन जब सवेरा हुआ, सो करके जगे और प्रवृत्ति की ओर आगे बढ़े, तो विविध प्रकार के संकल्प आते हैं साधक के जीवन में। बुरे संकल्पों का तो कोई स्थान ही नहीं है कि किसी को नुकसान पहुँचा दे, कि किसी का कुछ बिगाड़ दे ऐसी बात साधक के जीवन में आती ही नहीं है। जिसको अपना कल्याण अभीष्ट है वह कैसे किसी को हानि पहुँचाने की सोचेगा? वह तो सोचेगा ही नहीं लेकिन जहाँ तक हानि नहीं पहुँचाने वाले संकल्प हैं ऐसे संकल्पों की पूर्ति का सुख की साधक को उसके लक्ष्य से दूर कर देता है। तो महाराज जी ने बताया कि भई

सामूहिक-हित का संकल्प हो तो उसकी पूर्ति के लिए प्रयास करो। हो जाएगा तो बहुत अच्छा है, नहीं होगा तो कोई चिंता की बात नहीं है। और व्यक्तिगत सुख-सम्मान के लिए किसी संकल्प को लेकर चलोगे, तो उस संकल्प में तुम बँध जाओगे।

तो कहाँ से आरम्भ करना पड़ेगा संकल्पों का त्याग? तो हम विचार करेंगे ही कि कैसे-कैसे हमारे संकल्प पूरे हो सकते हैं। इस फेर में पड़े रहे काम करते समय, व्यवहार करते समय, परिस्थितियों को देखते समय इस बात पर ध्यान रहे और सुबह शाम 1/2 -1/2 घण्टे के लिए चुपचाप बैठकर समाधि का आनन्द लेना चाहे तो कभी सम्भव है? नहीं होता है, होता ही नहीं है, किसी प्रकार होगा ही नहीं। इसलिए मानव सेवा संघ में सम्पूर्ण जीवन को बदलने का उपाय आरम्भ से ही बताया महाराज जी ने। शुरु में ही करने के लिए कहा कि भाई देखो, अपने संकल्पों को रखकर ही जन्म लेने के लिए बाध्य होना पड़ा और फिर उन्हीं संकल्पों की पूर्ति का सुख पसंद करते रहोगे, तो उन्हीं संकल्पों को लेकर मरना पड़ेगा तो वही क्रम चलता रहेगा। जन्म-मरण की बाध्यता समाप्त हो नहीं सकती है। यह दूसरी बात हो गई।

अब तीसरी बात क्या है? जीवन में रस की अभिव्यक्ति और सरसता घट गई तो क्यों? जो अपना नहीं है, उसको अपना मानने से संतुष्टि नहीं होती है। जिसको अपना माना उससे कुछ चाहने से असंतोष रहता है। एक जगह पर महाराज जी ने ऐसा वाक्य लिखा है, कि चाहने वाले को चाहना पशुता है। एक सज्जन यह वाक्य लेकर मेरे पास आए, कहने लगे कि बहन जी, महाराज जी के इस वाक्य का अर्थ समझ में नहीं आता है कि चाहने वाले को चाहना पशुता है यह लिखा है। तो फिर मैंने उनसे बातचीत की, उनको बताया कि व्यक्तियों से सम्बन्ध हम बनाते हैं, क्यों बनाते हैं। भई? तो अपने में अधूरापन लगता है, ऐसा लगता है कि शरीर

को लेकर संसार में रहना है तो 2-4 दस बीस से सम्बन्ध बनाए बिना, उनका सहयोग लिए बिना निर्वाह होगा नहीं। तो सम्बन्ध बनाया ही मैंने इस उद्देश्य को लेकर कि जिससे सम्बन्ध बनाएँगे उससे कुछ ले करके अपना निर्वाह करेंगे तो चाहना हो गया न। अच्छा, अब जिससे सम्बन्ध जोड़ा वह भी हमारी ही तरह से चाह से और कामना से इच्छाओं से प्रेरित है, तो वह चाहता है कि आप से सम्बन्ध बनाएँगे तो आप उसकी जरूरत पूरी करेंगे और आप सोचते हैं कि उससे सम्बन्ध बनाएँगे तो उससे कुछ लेंगे, तो हमारा काम चलेगा। तो दोनों ही फँसे और मेरी ही तरह जो अधूरेपन से पीड़ित है, मेरी ही तरह जो कामनाओं से, वासनाओं से पीड़ित है, वह क्या हमारी कामनाओं की पूर्ति कर सकता है?जी, नहीं कर सकता है।

इसलिए स्वामी जी महाराज ने लिखा है कि चाहने वाले को चाहना पशुता है। बहुत तीखी बात है और सजग साधकों के दिल को हिलाने वाली बात है। सजगता रहनी चाहिए इस प्रकार की। तो इसलिए नीरसता का नाश ही नहीं होता क्योंकि हम आशाएँ करते रहते हैं और निकटवर्ती प्रिय कुटुम्बी जन, निकटवर्ती समाज के लोग उन आशाओं की पूर्ति में असमर्थ प्रमाणित होते हैं, तो कभी क्रोध आ गया, कभी क्षोभ आ गया, कभी दीनता आ गई, कभी परेशानी हो गई और इन सब विकारों के फलस्वरूप हृदय का जो रस है वह सूखता चला जाता है। हृदय शुष्क और कठोर बनता चला जाता है। तकलीफ बढ़ती जाती है, शान्ति घटती जाती है, स्थिरता घटती जाती है और इतनी अधिक गतिशीलता भीतरी और बाहरी सभी शक्तियों सें आ जाती है कि व्यक्ति बेचैन हो जाता है।

स्वामी जी महाराज ने सलाह दी हम लोगों को कि भई तुम इस प्रकार से विचार करो कि यह सारी सृष्टि मिलकर के तुम्हारी जो जरूरत है, उसको पूरी करने में असमर्थ है। तुम्हारी जरूरत क्या है? तुमको चाहिए अनन्त रस। तुमको ऐसा रसरूप जीवन चाहिए कि जिस रस का कभी नाश न हो, कभी घटे नहीं ऐसा रस चाहिए, तो ऐसा रस संसार नहीं दे सकता। जो खुद ही नीरसता से पीड़ित है, वह कहाँ तक तुमको सरसता दे सकेगा। जो खुद ही कामनाओं से पीड़ित है, वह कहाँ तक तुम्हारी इच्छाओं की पूर्ति कर सकेगा। इसलिए संसार से उसकी आशा मत करो। तब किससे करें भई, कौन कर सकता है? अपने आप में तो बहुत ही नीरसता सता रही है। तो विश्वासी जन ने जिसे परमात्मा कह कर सम्बोधित किया, वह जो नित्य तत्त्व है, अविनाशी तत्त्व है, वह जो परमात्मा है वही रस का भण्डार है, वह ही रस का अगाध सागर है, उसी से विमुख हो जाने के कारण जीवन में नीरसता सता रहीं है। यह बात बहुत दिनों के बाद मेरी समझ में आई। बहुत दिनों के बाद यह समझ में आया कि नीरसता क्यों हैं?

तो पहले पहल जब अपनी दशा का परिचय मुझे मिलने लगा तो मैं बनाने वाले पर बहुत नाराज रहती थी, कि तुमने कैसा बनाया है कि किसी प्रकार से भीतर से संतुष्टि होती ही नहीं है। कितना भी पहन लो, कैसा भी खा लो, कितना भी खेलो और कितना भी मनोरंजन का उपाय करो किसी तरह से संतुष्टिहोती ही नहीं है। छोटी उम्र की बात है। सखी सहेलियों के साथ झूलाझूल रही हूँ, गुड़िया खेल रही हूँ और उसमें भी जितना मजा आए तो थोड़ी देर बाद भीतर से ऐसा लगे, कि बस हो गया इतना ही मजा है और इसके आगे तो नहीं है तो एकदम धरती पर पाँव रोक करके झूला को रोक कर बीच में और भीतर-भीतर मैं सोचने लगती कि पूरा आनन्द तो नहीं आया। बस झूला में इतना ही सुख है इससे ज्यादा तो है नहीं।

और कहाँ है इससे ज्यादा सुख और कहाँ है ? पता ही नहीं कहाँ है ? तो फिर बनाने वाले पर क्रोध कि तुमने कैसा बनाया कि किसी भी उपाय से प्रसन्नता होती ही नहीं है, मजा आता ही नहीं है । तो यह नीरसता की जो अपनी घड़ी है, इसका परिचय सभी भाई-बहनों को होता है । स्वामी जी महाराज के पास आने के बाद मुझे इस प्रश्न का उत्तर मिला, कि भई जो अपना नहीं है, जो सदा के लिए अपने साथ रह नहीं सकता है, उसकी संगति से तुम रस चाहते हो । कभी होगा नहीं । समस्या स्पष्ट हो गई, अपनी भूल का पता चल गया । उपाय क्या है ?

तो उपाय यह है कि जो अपना नहीं है, अपना होकर रह सकता नहीं है, उससे सरसता की आशा मत करो । फिर बिना देखे, बिना जाने रस स्वरूप परमात्मा विद्यमान है, उससे बिछुड़ जाने के कारण, उसको भूल जाने के कारण, उससे विमुख हो जाने के कारण भीतर-भीतर यह हृदय की प्यास जो है वह सताती रहती है । रस की अभिव्यक्ति के बिना नीरसता का नाश होता नहीं है । तो क्या करना चाहिए ? करना यह चाहिए कि जो सृष्टि दिखलाई दे रही है, उसकी तो सेवा करो और सेवा के बदले में उससे कुछ चाहो मत और जो परमात्मा सुनने में आया, देखने में नहीं आया, जानने में नहीं आया । है तो सही, लेकिन अपने पास उसको देखने के लिए जो प्रीति-भरी दृष्टि चाहिए वह दृष्टि नहीं है । इसलिए उपस्थित होते हुए भी वह दिखता नहीं है । तो नहीं दिखता है, तो इसकी चिंता मत करो । अनुभवी जनों की वाणी को स्वीकार करो गुरु के वाक्य को स्वीकार करो, वेद के वाक्य को स्वीकार करो कि वह है और रस स्वरूप वही है और वही रस का स्रोत है, वही जीवन का आधार है । तो जब उसे अपना मानना स्वीकार करो तो इससे तुम्हारे भीतर रस की अभिव्यक्ति होगी । और जब परमात्मा के सम्बन्ध से जीवन में रस की अभिव्यक्ति होती है तो नीरसता का नाश होता हैं । तो नीरसता का नाश कैसे हो इसका उपाय उन्होंने बताया कि रस स्वरूप परमात्मा को अपना मानो । वही अपना है और कोई अपना हो ही नहीं सकता है ।

पराधीनता का नाश कैसे हो इसका उपाय बताया कि अपने को निर्मम, निष्काम और नि:संकल्प बना लो और सर्वदुखों की निवृत्ति कैसे हो इसका उपाय बताया कि नाशवान के संयोग-जनित सुख का त्याग करो तो उनका दु:ख भी मिट जाएगा, पराधीनता भी मिट जाएगी, नीरसता भी मिट जाएगी। और ऐसा कह रहे हैं महाराज कि जैसे दूसरों के काम आए बिना करने का राग मिटता नहीं है, अचाह हुए बिना शान्ति मिलती नहीं है और प्रभु को अपना माने बिना प्रेम-रस की अभिव्यक्ति होती नहीं है। तो ये ऐसे मंत्र है जो किसी भी युग में, किसी भी देश में, किसी भी मजहब के मानने वाले व्यक्ति को सफलता दे सकते हैं।

और अगर इन बातों को ग्रहण नहीं किया जाए, इनके अनुसार अपने को चलाया न जाए तो किसी और विधि-विधान से ये बातें पूरी हो जाएँगी, सम्भव नहीं है। तो कहाँ-कहाँ आदमी अटकता रहता है, किस-किस विधि-विधान में फँसा रहता है और जीवन की समस्या ज्यों की त्यों खड़ी रह जाती है और घड़ियाँ जल्दी-जल्दी निकल जाती हैं और काम रह जाता है शेष। तो हम लोगों को ऐसी असफलता न देखनी पड़े, इस बात के लिए स्वामी जी महाराज को बहुत चिन्ता थी। आखिरी क्षणों में जब हम प्रार्थना करते उनसे, कि महाराज विश्राम लीजिए, विश्राम लीजिए, अब तकलीफ मत कीजिए, अब मत बोलिए तो अत्यन्त अधीर होकर, बिल्कुल व्याकुल होकर गदगद कंठ से भरे हुए कंठ से कह देते, कि मेरे चारों ओर खड़े हुए मित्रों में से एक भी पराधीन दिखाई देता है, तो मैं विश्राम कैसे लूँ, ऐसा कह देते। तो उन संत की सद्‌भावना हम लोगों के साथ है और यही अवसर है, यही वर्तमान है, इसी में निकल चलें तो बात बन जाए और नहीं तो जो हो रहा है सो तो हो ही रहा है। अब शान्त हो जाएँ।

प्रवचन 13

कुछ प्रश्न हैं मेरे पास। एक-एक करके सब प्रश्न सुना दूँ। कर्त्तव्य से योग की प्राप्ति क्या सम्भव है ? तथा कर्त्तव्य करने के लिए किन-किन तथ्यों का आवश्यक रूप से पालन अनिवार्य है, कृपया विवेचन करें। किसके विश्वास भरोसे हैं कैसे पता चले, मेरा विश्वास किसमें है ? मैं किसके भरोसे हूँ, आप बताइए मुझको। पूज्य दीदी, मूक सत्संग में बैठे हुए काल में अभ्यास वश अगर अपने इष्ट मंत्र का स्मरण होने लगे अथवा अपने इष्ट का श्री विग्रह सामने आ जाए तो उस क्षण क्या करना चाहिए, कृपया इस समस्या का समाधान करें। असाधन क्या है ? असाधन के त्याग में साधन की अभिव्यक्ति है कृपया दृष्टान्त सहित इसका स्पष्टीकरण कीजिए। साधक के लिए असाधन का त्याग या साधन का ग्रहण इनमें कौन अधिक महत्त्व का है, इसे कहाँ से प्रारम्भ करना चाहिए। साधन शब्द प्रयत्न का द्योतक है फिर साधक को अप्रयत्न होने का उपदेश क्यों ?

पूज्यनीया माता जी, सादर प्रणाम। मन और विषय निर्गुणात्मक होने के कारण ऐसे मिले हुए है कि इनका पृथक् होना नितान्त कठिन है। विषय वासनाएँ मन में ओत प्रोत है और मन समाया हुआ है विषयों में। जब तक इनकी पृथकता न हो तब तक जीवों को सुख-शान्ति मिलनी क्योंकर सम्भव है ? अत: कृपया यह बताने का कष्ट करें कि यह मन विषयों से पृथक् कैसे हो ? यदि भौतिक अभाव के कारण जो मन के अन्दर मूढ़ता, काम, क्रोध, मोह, लोभ, मद, मत्सर अथवा राग-द्वेष आदि है। अत: भौतिक अव्यवस्था के कारण जो अभाव है, उसका अभाव कैसे हो ? श्री स्वामी जी महाराज ने एक स्थल पर जीवन-दर्शन में लिखा है सूत्र रूप कि सुख का भोगी दु:ख से नहीं बच सकता है। इस पर प्रकाश डालने की कृपा करें। ठीक है। सब प्रश्नों के प्रश्नकर्त्ता मौजूद हैं ?

स्वामी जी महाराज ने एक स्थल पर कहा है कि सुख का भोगी दु:ख से नहीं बच सकता, तो इसको मैं स्पष्ट करूँगी, मैं प्रमाणित करूँगी, कि आपका अपना जीवन इसका प्रमाण है। जिन अंशों में सुख लिया है और सुख लेना चाहते हैं तो उन अंशों में कभी दु:ख मिला कि नहीं मिला ? तो मुझसे प्रमाण क्यों माँगते हो भाई। संत की वाणी प्रमाणित हो गई कि जो भी कोई किसी प्रकार का सुख लेना पसंद करेगा उसको दु:ख भोगना ही पड़ेगा। उदाहरण मैं दे दूँ भई। आप स्पष्ट करवाना चाहते हैं तो उदाहरण यह है कि शरीरों की सहायता से सुख लेते हैं हम लोग। सब प्रकार का सुख शरीरों की सहायता से ही सम्भव होता है। तो जो लोग सुख भोगते हैं शरीर के माध्यम से, उनको शारीरिक रोग, शारीरिक वृद्धावस्था और शरीर के नाश का, जिसका नाम मृत्यु है, इसका दु:ख सहना पड़ता है कि नहीं ? रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु इन तीनों की पीड़ा से सुख भोगने वाला बच सकता है ? नहीं बच सकता। तो प्रमाणित हो गया कि सुख का भोगी दु:ख से नहीं बचेगा। ठीक है न ? तो अब इसका अर्थ यह नहीं है कि हम लोग हमेशा के लिए दु:ख के भोगी ही बने रहें। इसका अर्थ यह है कि सुख भोगना बन्द कर दें और देह की पराधीनता मिट जाए, तो दु:ख का दर्शन नहीं होगा।

कैसे नहीं होगा ? जिन महापुरुषों ने विचार के आधार पर शरीरों से असंगता प्राप्त कर ली और जिन महापुरुषों ने विश्वास के आधार पर प्रभु से आत्मीयता प्राप्त कर ली तो जिन्होंने ऐसा कर लिया उनके सामने रोग, मृत्यु और वृद्धावस्था का दु:ख नहीं आया। आप कहेंगे कि अमर हो गए ? तो शरीर अमर नहीं हो गया वे स्वयं प्रेमस्वरूप होकर के अमर हो गए और उस प्रेम-रस में उनको इतना आनन्द था कि कहाँ नाड़ी छूट रही है, कहाँ हृदय-गति बन्द हो रही है, कहाँ शरीर ठण्डा हो रहा है इनको पता नहीं चला। तो शरीर का नाश हम लोग नहीं रोक सकते हैं, शरीर के

नाश के भय का नाश कर सकते हैं। समझ में आया कि कर्त्तव्य से योग की प्राप्ति क्या सम्भव है। तो अब तक आपने जो कर्त्तव्य-विज्ञान सुना मानव सेवा संघ का और योग की बड़ी ही प्रामाणिक पुस्तिका है पातंजलि योग-सूत्र उसमें महर्षि पातंजलि ने योग के बारे में बहुत-सी बातें लिखी है। उसमें उन्होंने भी चर्चा की है कि कार्य-कुशलता योग है। अगर आप शास्त्रीय बातों का आधार लेते होंगे तो महर्षि पातंजलि का वाक्य सुन लीजिए, पढ़ लीजिएगा। और मानव सेवा संघी है तो संघ का सिद्धान्त सुन लीजिए और मानस के प्रेमी है तो गोस्वामी तुलसीदास जी के वचन याद कर लीजिए। कर्म से विरति लिखा है उन्होंने। मनुष्य के जीवन में कर्त्तव्य की प्रधानता है। और सचमुच जो कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाता है, उसमें शान्त रहने की क्षमता पैदा हो जाती है। आप कहते हैं कि क्या सम्भव है ? तो मैं कहती हूँ कि सम्भव है। और कर्त्तव्य करने के लिए किन-किन तथ्यों का आवश्यक रूप से पालन अनिवार्य है, तो मानव सेवा संघ में 4 तथ्य बताए कर्त्तव्य के विज्ञान में।

एक तो यह बताया कि लक्ष्य पर दृष्टि रखकर करो। दूसरा यह बताया कि भाव की पवित्रता रखो। और तीसरा यह बताया कि फलासक्ति का त्याग करके कर्म करो। और चौथा यह बताया कि पूरी शक्ति लगा कर ठीक विधि से करो। तो विधि-पूर्वक काम करना, पवित्र भाव से काम करना, निष्कामता पूर्वक काम करना और लक्ष्य पर दृष्टि रखकर काम करना। इन चारों बातों का पालन करते हुए जो लोग अपना कर्त्तव्य निभाते हैं, उनको कर्त्तव्य के अन्त में स्वत: अन्दर से शान्ति अनुभव में आती है और उस शान्ति में वे स्थित होकर योगवित हो जाते हैं। यह सच्ची बात है। प्रश्न-कर्त्ता में और कोई संदेह पैदा होता हो तो बताएँ। संतोष हुआ कि और कुछ जानना चाहते हो ? type करने बैठो तो जो शब्द जिस ढंग से करना है उसके बदले में उलटे पुलटे अक्षर के बटन दवाते रहो तो यह गलत विधि है। खेती करने चलो तो जिस मौसम में, जिस समय पर, जिस

ढंग से खेत की सफाई, बीज डालना चाहिए, उल्टा-सीधा करते रहो तो यह गलत ढंग है। और ठीक समय पर पूरा श्रम लगाकर ठीक तरह से उसका सम्पादन करो, तो वह सही विधि है। तो विधि तो हर जगह ठीक तरह से काम करने की है ही। जो काम जिस विधि से करना चाहिए उसको ठीक विधि कहते हैं। भाव की पवित्रता का कर्त्तव्य से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। और वह क्या है, कि हर एक काम को करने में भाव की पवित्रता सुरक्षित रखो। इसका अर्थ यह है कि काम करते समय इस बात का ध्यान रखो कि मेरे इस कर्म से किसी को कष्ट तो नहीं पहुँचेगा। छल-कपट वाली बात तो तुम्हारी व्यक्तिगत हो गई। निश्छल होकर के, निष्कपट होकर के करोगे। ऐसे काम का सम्बन्ध हमेशा समाज से होता है। ठीक है न? जैसे मैं बैठ कर बोल रही हूँ तो बोलने की जो क्रिया है, इसका सम्बन्ध व्यक्तिगत नहीं है।

अकेला आदमी अपने को क्या बोलेगा। तो बोलने की जो क्रिया है, उसका सम्बन्ध सारे समाज से है। हॉल में सत्संग होगा। कल से यहाँ हम लोग बैठेंगे तो इसकी सफाई करनी है, इसकी बिछाई करनी है मामूली सा काम है न, तो इस काम का सम्बन्ध सफाई और बिछाई करने वाले के व्यक्तिगत जीवन से नहीं हैं, समूह से है। बहुत से लोग आएँगे बहुत से लोग बैंठेगे, सत्संग होगा तो तुम देखोगे कि मनुष्य के जीवन में प्रत्येक कार्य का सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों से होता है, अन्य शरीरों से होता है। तो इसलिए मानव सेवा संघ ने नियम बनाया कि जो कर्त्तव्यनिष्ठ होकर के योग प्राप्त करना चाहता है, उसको प्रत्येक कर्त्तव्य के पीछे भाव की पवित्रता रखनी चाहिए। क्या करना चाहिए? काम करते समय याद रखना चाहिए कि मेरे इस काम से किसी को तकलीफ तो नहीं होगी। अगर तुम कष्ट नहीं दोगे किसी को अपने काम से, तो तुम्हारे काम के द्वारा हमेशा दूसरों को आराम मिलेगा, सहायता मिलेगी। तो भाव की पवित्रता का अर्थ यह है कि अहितकर काम मत करो, कभी मत करो। किसी के लिए अहितकर

काम मत करो। ऐसी आशा है कि ऐसा करने वाले आप लोग नहीं हैं, साधक कोटि के लोग हैं। अपनी साधना की दृष्टि से सेवा करते हैं। फिर भी उनके भीतर इतनी सी आशा है कि जब सत्संगी भाई-बहन लोग आएँगे और कहेंगे कि वाह हॉल की सफाई तो बहुत बढ़िया है, करने वाले लोगों ने तो बहुत अच्छा किया है, बहुत अच्छी बिछाई की है तो अगर इतनी सी प्रशंसा सुनने की आशा भी उनके भीतर है तो इस काम के बदले में योग नहीं होगा। समझ में आया। ईश्वर-विश्वास भरोसे हैं यह कैसे पता चले ? अब मैं क्या बताऊँ। तुम्हारे में किस पर विश्वास है, तुम्हारे में किस पर भरोसा है, तुम ही जानोगे हम कैसे कहेंगे।

मूक सत्संग में बैठे हुए इष्ट मंत्र की याद आ जाए और इष्ट का विग्रह सामने आ जाए तो इसमें थोड़ी सी चतुराई मालूम होती है साधक की। यह प्रचलित प्रथा है कि शान्ति-काल में जब मन में इधर उधर के विचार आने लग जाएँ तो जल्दी-जल्दी इष्ट-मंत्र का जाप करो और इष्ट का ध्यान करो, तो इधर-उधर की बातें हट जाएगी। तो अब मानव सेवा संघ कहता है कि नहीं भई कुछ मत करो। तो कुछ न करने का, कुछ न करने की तैयारी लेकर जो साधक बैठते हैं, उनको पुराने अभ्यास के कारण से मंत्र की याद आने लगती है। इष्ट का ध्यान दिखाई आ जाता है तो इसमें उनको थोड़ा सा विराम मिलता है। वे सोचते हैं कि अच्छा है। अन्ट शंट के आने से इष्ट का विग्रह सामने आ गया तो अच्छा है।

मैं इसका समर्थन इसलिए नहीं करूँगी कि यदि अपने आप आ गया तब तो बढ़िया बात है। उसका सहारा पकड़ कर आप व्यर्थ चिंतन को हटाना चाहते हैं, तो वह गलत बात है। अब आप अपना फैसला कर लीजिएगा कि सही पथ पर हैं या गलत पथ पर हैं। और अपने आप आए तो कुछ नहीं करना चाहिए। न उसकी विशेषता मानो न उससे क्षति मानो। आए तो आ जाए और हटे तो हट जाए। और सच्ची बात तो यह है कि

अगर अपने इष्ट में आपकी इतनी प्रियता होती, तो मूक सत्संग कब का सिद्ध हो गया होता। प्रियता होती, तो ध्यान हटता ही नहीं, नाम की विस्मृति होती ही नहीं। तो प्रियता तो नहीं है और अभ्यास है जोरदार, तो अभ्यास वश अगर मंत्र और इष्ट का ध्यान आ रहा है तो आने दो लेकिन उसका महत्त्व भी नहीं है, उसको पकड़ो भी मत, उसको हटाओ भी मत। जो स्वभाव से आ रहा है, तो स्वभाव से चला भी जाएगा और मूक सत्संग पक्का रहेगा।

अब साधन क्या है? तो मुझे तो आश्चर्य होता है कि यह भी किसी से पूछने की बात है। चिंतन किया जाता है और चिंतन होता है। याद किया जाता है और याद आती है। तो मानव सेवा संघ होने वाले चिंतन को और आने वाली याद को महत्त्व देता है, करने वाले को नहीं। मन को दोष देना और मन को प्राकृतिक मान लेना और मन विषयों में फँसा हुआ है, ऐसा जो मान लेगा, उसको तो कभी भी पृथक्करण का अनुभव ही नहीं होगा। बड़ा भारी गहन दार्शनिक विषय है और पूर्ण माथापच्ची इस विषय पर की जाती है। मानव सेवा संघ ने एक साथ छुट्टी दिला दी। कहा कि भैया, देखो ब्रह्म में ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं होती और जड़ जगत् में ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं होती। मन में मन के विषय-लोलुप होने का प्रश्न नहीं है और विषयों में मन के होने का प्रश्न नहीं है, ठीक है न।

इसलिए प्रश्न है मुझमें, और फैसला लेना पड़ेगा मुझको और मुझे अपने को पृथक् करना पड़ेगा मन से भी और विषयों से भी! तो आप तो पृथक् हो सकते हैं। मन से भी पृथक् हो जाएँगे, विषयों से भी पृथक् हो जाएँगे। जैसे मान लीजिए कि यह एक यन्त्र है और मैं उससे काम ले रही हूँ तो जब तक मुझमें ध्वनि को विस्तार करने का संकल्प है तब तक मैंने इसको पकड़ रखा है। तो यह बेचारा यंत्र है इसको मैंने पकड़ लिया

और इसकी सहायता से ध्वनि का विस्तार कर रही हूँ। तो ध्वनि जैसे भौतिक तत्त्व है यह यन्त्र भी वैसे ही भौतिक तत्त्व है। इसलिए दोनों का सहयोग बन गया। अब अगर मैं ध्वनि-विस्तार की क्रिया से बचना चाहूँ, तो इस यन्त्र को तोड़-फोड़ कर फेंकना पड़ेगा कि अपना संकल्प छोड़ना पड़ेगा? अपना संकल्प छोड़ना पड़ेगा । तो जब आदमी शरीर की सहायता से संसार के विषयों का सुख भोगना नापसंद कर देता है, तो उसका मन जो है वह संसार की ओर से detach हो करके उस उद्‌गम में चला जाता है, जहाँ से आया था। जिसमें से सारी प्रकृति पैदा हुई, उसी में से मन पैदा हुआ। ठीक है न? तो जब इस मशीन से काम लेने का संकल्प मेरा छुट जाएगा, तो संकल्प छूट जाने से मैं मशीन से मुक्त हो जाऊँगी। और यह मशीन ध्वनि-विस्तार के कार्य से मुक्त हो जाएगी। ठीक है न? इसकी कोई अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। मेरी सत्ता से इसको सत्ता मिली और मेरे संकल्प से ही इसमें कार्य आरम्भ हुआ।

मेरा संकल्प खत्म हो गया तो कार्य भी खत्म हो गया और कार्य करने का जो माध्यम यन्त्र है, उसकी भी जरूरत खत्म हो गई। ऐसे ही हमारे भीतर, आपके भीतर जो मन है यह प्राकृतिक तत्त्व है और जब व्यक्ति इस मन के द्वारा संकल्प-पूर्ति के साधनों को संसार में जुटाने के फेर में पड़ना छोड़ देता है, जब उसका संकल्प बन्द हो जाता है तो मन के साथ सम्पर्क टूट जाता है। और जो लोग तन से और मन से असंग हो जाते हैं उनके मन की शक्ति जो है वह जाकर के उसमें विलीन हो जाती है जिसमें से निकली थी।

तो साधक जो है, उसको पता ही नहीं चलता है कि मन कहाँ गया? मन भी गया और विषय भी गया। उस स्थिति को लाने के लिए क्या करें? कि आज से ही अपने संकल्प का त्याग करें। मैं अपने व्यक्तिगत सुख के लिए कुछ नहीं करूँगा, कुछ नहीं चाहूँगा। शरीर है, उसमें शक्ति

है तो पर-हित के लिए जो करते बनेगा करूँगा और जैसे ही करने का समय खत्म होगा, मैं तीनों शरीरों से असंग होकर अपने आप में स्थित रहूँगा। तो मन से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है, इस सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा। तन से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है इस सत्य को स्वीकार करना पड़ेगा। तो विचारक आप है, जिनके सामने तन-मन की उलझन लगी हुई है। उसको स्वीकार करना पड़ेगा। अभी-अभी अपने को ब्रह्म स्वरूप मत मानो। ब्रह्म स्वरूप को असंगता की साधना नहीं करनी पड़ती है। ब्रह्म स्वरूप में मन और विषय का प्रश्न नहीं उठता है। तो हम सचमुच ब्रह्म स्वरूप है लेकिन ब्रह्म स्वरूप होते हुए भी अपनी भूल से ब्रह्म से भिन्न जो दृश्य जगत् है, उससे नाता जोड़ लिया। तो जिसने नाता जोड़ लिया, उसको तोड़ना पड़ेगा, ब्रह्म को नहीं। खूब सुना है मैंने स्वामी जी महाराज के पास बैठकर के वेदान्त लोगों की चर्चा करते हुए।

मानव सेवा संघ में महाराज जी ने बहुत स्पष्टीकरण कर दिया। आपने जैसे प्रश्न किया न वैसे हम खूब सुने हैं और सब महाराज जी की बातें ही दोहरा रही हूँ, अपनी बातें नहीं कह रही हूँ। आप सोच कर देखिएगा आपके भीतर जो आत्म ज्ञान है उसने आकर के प्रश्न पैदा कर दिया। शरीरों से असंग कौन होगा? अब आप सोच रहे हैं कि मैं तो ब्रह्म स्वरूप हूँ, तो ब्रह्म स्वरूप को शरीरों से असंग नहीं होना पड़ेगा। लेकिन शरीरों से संग करके जो मन विषयों के फेर में पड़ गया है उसको शरीरों से असंग होना पड़ेगा। इसीलिए मानव सेवा संघ के दर्शन में ब्रह्म शब्द का प्रयोग नहीं होता, आत्मा शब्द का प्रयोग नहीं होता, मनुष्य शब्द का प्रयोग होता है। मैं मनुष्य हूँ मेरा आकर्षण संसार की ओर है, मुझमें सत्य की जिज्ञासा है, मुझमें परम प्रेम की अभिलाषा है। तो परमात्मा में प्रेम की अभिलाषा माननी नहीं पड़ेगी। ब्रह्म में ब्रह्म की जिज्ञासा नहीं होगी। अविनाशी में नाश का भय नहीं होगा। ठीक है न? तो इसीलिए

स्वामी जी महाराज ने सारे दार्शनिक विवेचन का आधार 'मैं' को माना। इस 'मैं' का स्वरूप क्या है ? तो 'मैं' का स्वरूप है, कि इसी 'मैं' में जगत् का बीज भी है और इसी 'मैं' के सत्य की जिज्ञासा भी है। और इसी 'मैं' में परम प्रेम की प्यास भी है। तो करना क्या होगा कि संसार के प्रति जो आकर्षण है, उस आकर्षण को मिटा देने से सत्य की जिज्ञासा पूरी हो जाएगी, परम प्रेम से तृप्ति हो जाएगी, प्रेम की अनुभूति हो जाएगी आपको, तो ज्ञान और प्रेम से सम्पन्न हो करके आपकी समस्याओं का समाधान हो जाएगा। तो आप ऐसा सोच कर देखिए कि मैं मनुष्य हूँ और मुझ में मन के विषय-लोलुप होने की पीड़ा है, तो मुझ पर इनसे असंग होने का दायित्व है।

तो पीड़ा भी मुझ में है और उस पीड़ा को दूर करने की क्षमता भी मुझ में है और पीड़ा को दूर करने का पुरुषार्थ करने का दायित्व भी मुझ पर है। तो जिस पर दायित्व है, वह मनुष्य है, जिसमें पीड़ा है वह मनुष्य है जो पीड़ा-मुक्त होना चाहता है वह मनुष्य है। ऐसा अपने स्वरूप का निरूपण करके आप प्रयत्न आरम्भ करिए। यह मत पूछिए कि मन से और तन से असंग किसको होना है। अरे भई जो फँसा अनुभव करता है उसको होना है। अब किस तरीके से होगा उपाय क्या है ? तो असंग होने का तरीका यह है कि इसका संग, अब मैं थोड़ा अंग्रेजी Term और भौतिक विज्ञान का प्रयोग करूँ आप समझ लेंगे कि छोड़ कर कहूँ ?

अब देखिए Neurology है मनुष्य के स्नायु-मण्डल का विज्ञान तो उसमें ऐसा वर्णन है कि जैसे एक स्नायु की बनावट है उसकी ये शाखाएँ हैं फिर दूसरे स्नायु की बनावट है उसकी ये शाखाएँ हैं और स्नायु ऐसे overlapping conditionमें यह पड़े रहते हैं। तो इनके दोनों में रचनात्मक योग नहीं है, अलग-अलग है बिल्कुल। अब क्या होता है जब इधर से कोई स्नायु प्रवाह आया और इधर के स्नायु प्रवाह को पकड़ना है तो दोनों

में Functional relation हो जाता है। उस में structural relation नहीं है। बस इतना ही सम्बन्ध है देह की संगता और असंगता में। चूंकि मैंने शरीर की सहायता से संसार का सुख भोगना पसंद किया, तो मेरा, अविनाशी तत्त्व का नाशवान शरीर से एक structural relation तो त्रिकाल में हो ही नहीं सकता लेकिन Functional relation बन गया। मैंने इससे सुख भोगना पसंद किया तो मेरा तादात्म्य हो गया। मेरे संकल्पों के फलस्वरूप मेरे सामने दृश्य जगत् दिखाई देने लगा।

इतना ठोस सत्य है यह कि किसी भी दर्शन का और किसी भी सम्प्रदाय का मानने वाला साधक, मनुष्य के जीवन के इस वैज्ञानिक और दार्शनिक सत्य से इन्कार कर ही नहीं सकता है। आप द्वैतवादी है या अद्वैतवादी हैं कि विशिष्टाद्वैती हैं कि क्या आपका दर्शन है आप जानिए। मैंने तो आपको विज्ञान के विद्यार्थी की तरह जीवन के सत्य को पढ़ा और आपके सामने मैं प्रकट कर रही हूँ। और आपकी पृष्ठभूमि है इसलिए आप पकड़ रहे हैं। Structural relation कभी हुआ ही नहीं भाई, अविनाशी और नाशवान में यह रचनात्मक सम्बन्ध सम्भव कैसे हो। कभी नहीं हुआ, त्रिकाल में नहीं हुआ। लेकिन मैंने अब मैं कह कर सम्बोधित करूँ अपने को, शरीर की सहायता से बढ़िया-बढ़िया वचन बोलकर के श्रोताओं को सुनाना पसंद किया तो स्वर यन्त्र से मेरा तादातम्य जुट गया।

यह functional relation है। जिस दिन बोलने की वासना खत्म हो जाएगी, उस दिन वाणी मूक हो जाएगी। जब बोलना मैं बन्द कर दूँगी तो जैसे ही बोलने की वासना छूटेगी, स्वर-यंत्र से तादात्म्य भी तत्काल टूट जाएगा। तो गया तो सब एक साथ गया फिर कर्म की वासना गई तो कारक अंगों से सम्बन्ध टूट गया। चिंतन की आवश्यकता खत्म हुई तो सूक्ष्म शरीर से सम्बन्ध टूट गया। फिर कारण शरीर की स्थिति की शान्ति

में भी ठहरना मैंने पसंद नहीं किया तो सीमित अहं भाव की सीमा भी समाप्त हो गई। तो 'मैं' की, अहं की परिछिन्नता का नाश हो जाता है तो वहाँ शुद्ध अद्वैत रह जाता है फिर दृश्य जगत् की स्थिति ही वहाँ नहीं होती। रहता ही नहीं है ऐसा लुप्त होता है कि जैसे कि कभी था ही नहीं। जब ऐसा हो गया आपको प्रश्न करने की जरूरत नहीं रहेगी।

पापा, देखिए वहाँ चित्रकूट की सभा है और भरत लाल जी दिल में कितनी बातें भरके गए हैं, कि रघुनाथ जी को सुना दूँगा। और तो कोई बूझेगा नहीं। नगर के लोग तो कहेंगे कि इसी ने षड़यंत्र किया होगा, अब झूठमूठ के रो रहा है, तो नगर के लोग तो यह कहेंगे। तो जो जिसके जी में आए कहे, भाड़ में जाए संसार, मेरे तो एक रघुनाथ जी अपने हैं और उनके बिना मेरे जी की बात कोई समझेगा-पूछेगा नहीं, इसलिए मैं जाता हूँ मैं उनको सब सुना दूँगा। चले गए, पहुँच गए, दण्ड प्रणाम कर लिया। दोनों भाई मिले तो गोस्वामी जी कहते हैं 'परम प्रेम पूरन दोऊ भाई मन चित बुधि अहमिति बिसराई, खत्म हो गया न।

मूक सत्संग हो गया। मन, चित्त, बुधि अहमिति बिसराई। अहं भी दूर हो गया। परम प्रेम पूरन दोऊ भाई दोनों भाई परम प्रेम से पूर्ण है और जब एक-दूसरे को मिले तो क्या हो गया मन, चित, बुधि अहमिति बिसराई सब खत्म हो गया। बड़ी देर लग गई इसमें। उसके बाद जब दोनों बैठे हैं तो गोस्वामी जी कह रहे हैं—

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूँछा।
प्रेम भरा मन निज गति छूँछा॥

योग हो गया, मूक सत्संग हो गया। तो आसन लगा कर दरवाजा बन्द करके कि खिड़की बन्द करके sound proof room बना कर करना पड़ा? न। हृदय में रस उमड़ा और हो गया। कोऊ किछु कहहि न कोऊ किछु पूँछा। भरत लाल को कितना कहना था रघुनाथ जी से और

रघुनाथ जी को कितना पूछना था भरत लाल से। भैया कुशल समाचार बताओ, भैया नगर की बात बताओ, भैया माता-पिता की बात बताओ कितना समाचार उनको पूछना था। कोऊ किछु कहहि न कोऊ किछु पूँछा न कोई कुछ कह रहा है न कोई कुछ पूछ रहा है।

क्या हो गया? प्रेम-भरा मन निज गति छूँछा। वहाँ गति है नहीं, वहाँ नित्य योग है। प्रेमी और प्रेमास्पद मिलकर के उस रस में खो गए। गोस्वामी जी तो बड़े मर्मज्ञ है न। तो पहले ही कह रहे हैं, मन चित बुधि अहमिति बिसराई। अहमिति बिसर गई तो अब कौन कहेगा, कौन पूछेगा। तो मूक सत्संग सिद्ध हो गया। अगर कुछ करने की चेष्टा करिएगा तो अप्रयत्न नहीं हो सकिएगा। प्रयत्न रहेगा तो अहं का नाश नहीं होगा। इसलिए चेष्टा मत करो। अरे भई मन के पीछे क्यों पड़ते हो, साँस तो लेने दो उस बेचारे को। और बार-बार तरह-तरह के चित्र सामने आते हैं तो आएँगे, चले जाएँगे। आप परवाह मत करिए छोड़ दीजिए। थोड़ी देर के लिए अकेले तो होइए। तो अभी जैसे उन भाई के प्रश्न के उत्तर में कहा मैंने कि अनेक प्रकार के संकल्पों को अपने भीतर रखकर के मन को हम लोग शान्त करना चाहते हैं। कैसे होगा भई? पहले तुम अपने संकल्पों का त्याग तो करो। संकल्प नहीं रहेंगे, तो मन का कार्य खत्म हो गया। मन का कार्य नहीं रहा तो बुद्धि का कार्य खत्म हो गया तो अपने आप करिए। शक्तियाँ शान्त हो जाएगी। तो होने देते नहीं और कहते हो कि होता नहीं है। होने कहाँ देते हो, होने दीजिए।

/महाराज जी का बोलना न बोलने के समान था। बोलते हुए भी वे भीतर से एकदम निष्क्रिय होते थे। क्रिया से उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता था। स्वामी जी महाराज जब स्वराज्य के आन्दोलन में खूब नारा लगा रहे थे, विदेशी शासन को हटाने के लिए और पिकेटिंग कर रहे थे और जेल जा रहे थे। तो स्वामी जी महाराज की उम्र तो बहुत छोटी थी, जल्दी

संन्यास ले लिया था तो महाराज जी के गुरु महाराज के एक मित्र थे, उन्होंने देखा कि यह लड़का क्या कर रहा है ? तो उनके पास आए उनकी पीठ सहलाई, खूब प्यार किया और कहा कि बेटा, क्या तुमने इसीलिए सन्यास लिया था ? तो महाराज जी ने कहा, नहीं महाराज। तो यह तू क्या कर रहा है ? तो कहा, कि देश की सेवा का राग नहीं छोड़ सका, तो करके मिटा रहा हूँ। अब तुम्हारी दशा क्या है ? तो एकदम अट्टहास करके कहते हैं, कि मैं त्रिकाल में भी कुछ नहीं करता हूँ। मैं अपनी अखण्डता में विराजमान हूँ।

तो हमारे भीतर जो बोलने का संकल्प है वह तो मेरे राग के परिणाम से है और श्रोता के रूप में उन्होंने ही मुझे अवसर दिया उपस्थित होकर के कि बोल लो, हितकर वाणी बोल लो, प्रिय वाणी बोल लो, सत्य वाणी बोल लो और बोलने का राग खत्म करके न बोलने की स्थिति में पहुँच जाओ। तब क्या होगा ? कि मुझे बोलने की आवश्यकता नहीं रहेगी, तो शरीर से तादात्म्य टूट जाएगा। कुछ करने के राग ने मुझ को शरीर से बाँध रखा है। करने का राग समाप्त हुआ, तो शरीर से तादात्म्य टूट गया। मैंने महापुरूषों को देखा है कि वे अपनी असंगता में आप मस्त रहते हैं और जब किसी दुखी जन की पीड़ा में शामिल होना होता है, तो शरीर के रूप में इस यंत्र को पकड़ लेते हैं। काम कर लिया और छोड़ कर फिर अपनी असंगता में डूब गए। राग-निवृत्ति के बाद अगर प्रवृत्ति होती है तो वह केवल पर-पीड़ा से द्रवित होकर होती है, दूसरों के संकल्प में शामिल होने के लिए होती है। इन प्रवृत्तियों का त्रिगुणातीत पुरुष पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

प्रवचन 14

दो प्रश्न हैं। जीव का सहज स्वरूप क्या है ? कुछ समय पूर्व आपने गोस्वामी जी की चौपाई मम दर्शन फल परम अनूपा, जीव पाव निज सहज स्वरूपा ,में आपने सहज स्वरूप का संक्षेप में निरूपण किया था। कृपया कुछ और प्रकाश डालें। और दूसरा प्रश्न है अचाह से क्या तात्पर्य है ? जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरी करनी ही पड़ती हैं। तो जीव शब्द का प्रयोग मानव सेवा संघ की पद्धति में हम लोग नहीं करते हैं। इसके स्वरूप में बहुत तरह-तरह की बातें हैं और वह इस तरह की ध्यान की पुस्तकों में लिखी हुई हैं। मानव सेवा संघ की पद्धति में 'मैं' के स्वरूप का वर्णन होता है। तो मैं का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में प्रातःकाल बहुत अच्छी तरह चर्चा हुई थी। मैं में संसार का आकर्षण भी है, मैं में सत्य की खोज भी है और उसमें परम प्रेम की प्यास भी है। तो जो सत्य के सम्बन्ध में जिज्ञासा रखता हो, जो अनन्त परमात्मा के प्रेम की अभिलाषा रखता हो और साथ ही संसार के सुखों की ओर भी आकर्षित रहता हो, उसका नाम् है मैं। यह मैं का स्वरूप है। अब साधना के फल से क्या होता है तो साधना के फल से विशेष बात यह होती है कि भूल से उत्पन्न हुआ संसार के प्रति जो आकर्षण है, उस आकर्षण का नाश हो जाता है। तो संसार की आसक्ति खत्म हो जाती है, तो सत्य की जिज्ञासा पूरी हो जाती है, तो प्रेम की प्राप्ति हो जाती है।

ज्ञान और प्रेम हमारा निजस्वरूप है, ज्ञान से अभिन्न होकर, प्रेम से अभिन्न होकर सीमित अहंभाव का लोप होता है। सीमित अहंभाव के मिटने के बाद हमारी स्व स्वरूप से अभिन्नता हो जाती है। तो यह है साधना का फल। और गोस्वामी जी के वचनों को जो मैंने दोहराया तो उसमें यह उद्देश्य था बताने का, कि ज्ञान स्वरूप से अभिन्न होकर, प्रेम स्वरूप से अभिन्न होकर सीमित अहंभाव का लोप हो जाता है। जब मैं

हूँ, ऐसे जो अपना एक भास हो रहा है तो जब तक यह भास बना रहता है कि मैं हूँ, तब तक दिखाई देता है कि यह जगत् है, तब तक खोज रहती है कि सत्य क्या है। तो संसार की आसक्ति के त्याग के बाद जब जब अहं शुद्ध होता है, आसक्ति से उपजने वाले विकारों का नाश हो जाता है, तो उस शुद्ध अहं में यह सामर्थ्य आ जाती है कि वह अपनी सीमा को तोड़ कर, अहं-भाव का नाश करके ज्ञान स्वरूप और प्रेम स्वरूप से अभिन्न हो जाए।

तो जब ज्ञान स्वरूप सत्य से, जब प्रेम स्वरूप परमात्मा से अभिन्नता हो जाती है, तब वह अपने सहज स्वरूप में स्थित हो जाता है। वहाँ क्या होता है? तो यह तो अनुभव की बात है। वर्णन करने की चर्चा केवल इतनी-सी है कि संसार की आसक्ति मिटी नहीं कि दृश्य जगत् मुक्त हो जाता है। यह मैं हूँ और यह संसार है यह द्वैत का भास खत्म हो जाता है। तो जो ज्ञान-पंथ के साधक होते हैं वे ज्ञान स्वरूप मैं ही हूँ ऐसा करके मान लेते हैं। तो जो सत्य है, नित्य तत्त्व है, जो ब्रह्म तत्त्व है, जो परमतत्त्व है वह मुझमें ही है, मैं ही हूँ ऐसा करके वे लोग मान लेते हैं। और जो ईश्वर-विश्वासी हैं वे अपने सहज स्वरूप को प्रेम की धातु में परिवर्तित हुआ पा करके प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाते हैं। तो चाहे ज्ञान स्वरूप होकर सत्य से अभिन्न हो जाओ, चाहे प्रेम स्वरूप होकर सत्य से अभिन्न हो जाओ, अहं की सीमा खत्म हो जाती है। यह होता है सहज स्वरूप।

अचाह से क्या तात्पर्य है? अचाह का अर्थ है कुछ नहीं चाहना। तो हम लोग जब संसार से कुछ चाहते हैं तो इसका नाम चाह होता है। जैसे आराम से रहने की जगह चाहिए, ठीक समय पर भोजन चाहिए, प्रेम पूर्वक गप-शप करने के लिए मित्र-मण्डली चाहिए, मुझको आदर सम्मान देने के लिए समाज चाहिए। यह सब मनुष्य की भूख है। स्थूल शरीर को खुराक चाहिए अन्न, जल इत्यादि-इत्यादि चाहिए। सूक्ष्म शरीर को

मान, बढ़ाई, प्रशंसा सब चाहिए, चिंतन चाहिए, संगति चाहिए company चाहिए, मित्रता इत्यादि। और इन शरीरों में फँसे हुए को सुख-सुविधा सम्मान सब चाहिए। तो इन तीनों का सम्बन्ध, सुख का, सम्मान का, सुविधा का, इन तीनों का सम्बन्ध संसार से है। तो संसार से कुछ चाहिए तो वह चाह कहलाता है। और संसार से अपने को कुछ-कुछ मिला हुआ है। तो संसार ने जो दिया है, उसका सदुपयोग करो तो वह साधन कहलाता है। तो प्राप्त सुख-सुविधा परिस्थिति का सदुपयोग करो तो वह साधन कहलाता है और अप्राप्त की चिंता में लगे रहें तो वह चाह कहलाती है? प्रश्नकर्त्ता भाई सुन रहे हैं। प्रश्न कर्त्ता कौन है?

तो यह चाह हो गई। अब कहा जा रहा है कि अचाह हो जाओ। अर्थात् अप्राप्त का चिंतन छोड़ दो, अप्राप्त का। जितना खाने-पीने को शरीर की सेवा के लिए उपलब्ध है उसमें से उचित मात्रा में शरीर की सेवा की दृष्टि से शरीर को अर्पण कर दो, तो इसमें कोई भूल नहीं है। लेकिन जो मिल नहीं रहा है, उसके लिए भीतर से रह-रह कर बात उठती है कि क्या बताएँ ऐसा भोजन मिलता तो ठीक था। ऐसा होता तो अच्छा होता तो यह कहलाता है अप्राप्त का चिंतन। तो जो परिस्थिति प्राप्त है, उसका सदुपयोग साधन है और जो प्राप्त नहीं है, उसके बारे में सोचते रहना, कि उसकी आवश्यकता अनुभव करना यह चाह है। तो चाह को छोड़ देना है। तो भाई हमारे कह रहे हैं कि जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएँ तो पूरी करनी ही पड़ेंगी। तो देखिए कि अप्राप्त के चिंतन से भी न्यूनतम आवश्यकताएँ पूरी नहीं होती हैं, कर्त्तव्य-पालन से शरीर की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं।

तो परिवार में रहो, चाहे समाज में रहो, चाहे दुनिया के किसी हिस्से में भी रहो निकटवर्ती जन-समुदाय के काम आने की सोचो तो शरीर की न्यूनतम आवश्कताएँ विधान के अनुसार स्वतः ही पूरी होंगी। और काम

आने की बात न सोचो तो मस्तिष्क में से न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति की चिंता मिटेगी नहीं। और सच्ची बात यह है जो अचाह हो गए, तो उन अचाह पुरुषों की न्यूनतम आवश्यकताएँ शरीर की, अपनी तो क्या करेगा कोई, उन आवश्यकताओं की पूर्ति का इन्तजाम प्रकृति की ओर से होता है, विधान की ओर से होता है, समाज की ओर से होता है। अचाह पुरुषों को सोचना नहीं पड़ता है कि अब संध्या समय मुझे भूख लगेगी तो क्या होगा? जो अचाह होते हैं, वे शरीर की जो बहुत ही आवश्यक बातें हैं, उनकी पूर्ति की भी परवाह नहीं करते हैं।

क्यों नहीं करते हैं? क्योंकि उनको उसमें भी अपने अविनाशी जीवन की साधना में बाधा मालूम होती है। इसीलिए वे परवाह नहीं करते हैं। क्या करते हैं? वे सोचते हैं कि भाई इस शरीर को रखना प्रकृति को मंजूर होगा तो भोजन आएगा ही समय पर और आएगा तो हम अर्पण कर देंगे। अगर इस शरीर को रखना समाज के लिए उपयोगी होगा तो समाज खुद ही इसकी फिक्र करेगा। परिवार के लिए अगर यह शरीर आवश्यक है, तो परिवार के लोग खुद ही चिंता करेंगे, खिला देंगे, तो खा लिया जाएगा, लाकर के दे देंगे तो शरीर को अर्पण कर दिया जाएगा। और नहीं तो अपने को कोई जरूरत नहीं है। इतना साहस आरम्भ में रखना पड़ेगा और पीछे तो मैंने देखा है, कई संतों के बारे में देखा है सुना है कि वे चाहते कुछ नहीं है। यहाँ तक कि शरीर को भूख के समय भोजन देना चाहिए, इसके बारे में भी वे सोचना पसंद नहीं करते। क्योंकि उनका जो अपने जीवन का लक्ष्य है, अविनाशी स्वरूप में स्थित रहने का जो लक्ष्य है, उसमें बाधा पड़ेगी तो वे परवाह ही नहीं करते हैं।

सोचते ही नहीं हैं सचमुच ऐसे जो अचाह पुरुष होते हैं, उनकी चाह उनके शरीर की जरूरतों की पूर्ति प्रकृति स्वयं करती है, परमात्मा स्वयं करते हैं, ऐसा मैंने संतों-भक्तों के जीवन में सुना है, पढ़ा है। तो महाराज

जी के लिए तो मालूम ही है, ऐसा होता ही था। सुमत प्रकाश सिंघल दिल्ली के रहने वाले सज्जन हैं। स्वामी जी महाराज के साथ शुरू-शुरू में यात्रा किया करते थे। तो गऊ के सम्बन्ध में, गऊ-सेवा के सम्बन्ध में कुछ बात एक बार हुई थी। तो महाराज जी ने वृन्दावन से अहमदाबाद की ओर जाते हुए ट्रेन में यह तय कर लिया, कि अब हम केवल गऊ के दूध का प्रयोग करेंगे, भैंस का दूध नहीं लेंगे। नियम बना लिया। तो सुमत भाई कह रहे थे कि हमने कहा कि स्वामी जी रास्ते में जितने भाई लोगों को पत्र लिखा गया है पहले से, कि महाराज के लिए दूध-फल ले आना तो किसी को नियम नहीं लिखा गया, क्योंकि पहले तो आपका नियम था ही नहीं।

तो अब रास्ते में आपने नियम ले लिया तो अब कैसे बनेगा यह तो ठीक नहीं हुआ। अब पहुँच जाए हम लोग जगह तक, तो हम सबको बता देंगे, तब वैसा आप निभाइएगा। तो महाराज जी ने कहा तुम चुपचाप रहो। जाकर बैठो IInd class में, बोलो मत। भेज दिया उनको, चले गए तो सुमत जी कहें कि मेरे जी में तो ऐसी तकलीफ पैदा हुई कि आज मैं स्वामी जी महाराज को भूखा कैसे रखूँगा पिलाऊँगा, कैसे दूध रास्ते में आएगा? तो पता नहीं गाय का आएगा कि भैंस का आएगा। किसी से कुछ कहा नहीं गया है। तो चुपचाप जाकर बैठ तो गए लेकिन बेचारे को बहुत छटपटी कि अब क्या करें महाराज जी तकलीफ में रहेंगे। कैसे दूध पीना होगा। तो कह रहे थे कि महसाना एक स्टेशन है। उस स्टेशन पर जब ट्रेन रुकी तो उस ट्रेन में दूसरी जगह पर दूसरे-दूसरे संत लोग बैठे थे। दूसरे Ist class compartment में। और भक्तों के यहाँ से घर की गाय का दूध खूब केसर, मेवा और मिश्री डाला हुआ सब पकाया हुआ इतना बड़ा-बड़ा चाँदी का लोटा पात्र, उसमें भर-भर के स्टेशन पर आया होगा, इनको क्या पता ये तो IInd class में से दौड़कर के आकर स्वामी

जी महाराज के पास खड़े थे। अब सोच रहे थे अब क्या करेंगे। अब दूध पीने का समय है क्या पिलाएँगे। तो दूसरे लोग लेकर आए दूसरे संतों को पिलाने के लिए तो उन संतों ने कहा कि एक काम करो। यहाँ से थोड़ी दूर आगे बढ़ो दूसरा एक Ist class compartment है, उसमें एक प्रज्ञाचक्षु संत बैठे हैं यह पात्र लेकर के जाओ और उनको पहले पिलाओ और जितना वे पी सकें उतना पिला देना, जो बाकी बचे सो वापस ले आना, तब हम लोग पिएँगे। ऐसा कह कर उन संतों ने भेज दिया। तो सुमत जी स्वामी जी महाराज के पास खड़े थे और असमंजस में थे कि अब कैसे करें क्या करें। इतनी देर में उस स्टेशन पर संतों के भेजे हुए लोग लोटे में खूब घर की गाय का दूध और पकाया हुआ सब लाकर हाजिर किया, तो स्वामी जी महाराज ने पूछा कि आप लोगों को कैसे मालूम हुआ कि मैं यहाँ बैठा हूँ, कहाँ से आए हो भाई? किसने भेजा है तो 3-4 जने थे। वे लोग संत के भक्त थे उन्होंने कहा कि हमारे महाराज जी उधर दूसरे compartment में बैठे हैं, वे लोग जा रहे हैं। तो उनका नियम है केवल गाय का दूध पीने का, उनके लिए हम लोग घर की गाय का दूध बना कर लाए थे। और उनको पिलाने के लिए जब पहुँचे हम, तो उन्होंने आपके पास भेज दिया। तो स्वामी जी महाराज तो समझ गए किसने भेज दिया, कैसे आ गया उनके लिए कोई नई बात तो थी नहीं। तो अपना गिलास निकलवाया सुमत जी से और जितना पीने का था पी लिया और बाकी भेज दिया। दूध इतना ज्यादा था कि वे 4-5-6 संत जितने थे उनको पिला करके भी खत्म होने वाला नहीं था, बहुत था। तो उन्होंने कहा कि महाराज जी हम लोगों के पास बहुत दूध है, इस लोटे में जो बचा है आप और ले लीजिए।

तो स्वामी जी महाराज ने सुमत जी को पहले खूब चिटकाया कहने लगे कि कहो बेटा कहाँ से इंतजाम किया? ऐसे-ऐसे बात बनाएँ फिर कहा

कि तुमने जाकर के उन लोगों को कुछ कह तो नहीं दिया। तो सुमत जी बोले नहीं महाराज मुझको तो कुछ पता ही नहीं हम तो इसी चिंतन में बैठे थे कि अब कहाँ से लाएँ गाय का दूध। तो कहा कि अच्छी बात, अब तुम भी पिओ। अब तो सरकारी इंतजाम है न, उसमें कमी क्या है, हो ही नहीं सकता है। तो सुमत जी बताते हैं कि गिलास भर-भर कर के स्वामी जी महाराज ने मुझको भी पिला दिया। उस दूध में जो स्वाद था, जो मिठास था वह जिंदगी में कभी मैंने पिया ही नहीं था न उसके बाद न उसके पहले, आज तक कभी मिला ही नहीं ।

तो सुमत जी को भी पिला दिया आपने भी पी लिया बाकी लेकर के वे लोग चले गए और जो संत लोग दूसरी जगह बैठे हुए थे Ist class में उनको पिला कर खत्म कर लिया काम। एक उदाहरण नहीं ऐसे मैं अनेक उदाहरण रख सकती हूँ। स्वामी जी महाराज को तो हमने नजदीक से देखा ही है, जाना ही है। बाइबल में महात्मा ईसा के जीवन में पढ़ा है कि जब उनको दीक्षा दी गई उनका बपतिस्मा कराया गया। भगवान के साथ, पिता का सम्बन्ध जोड़ने का एक रस्म होता था। गाँव में जो नदी की धारा बहती थी उस नदी में शिष्य होने वाले को स्नान करवाया जाता था और यहाँ पर तिलक कराया जाता था जल से, जो भी कुछ होता था सब हो गया तो उन्होंने कहा कि अब ठीक बात है, अब पिता का काम करने की घड़ी आ गई है तो पहले मैं उससे प्रार्थना तो कर लूँ, पहले उससे पूछ तो लूँ कि मुझे क्या-क्या करना है, वह कैसे-कैसे कराएगा। ऐसा सोचकर के वे सुनसान निर्जन स्थान में एक पर्वत की चट्टान के नीचे घुटने टेक करके प्रार्थना करने बैठे। तो प्रार्थना में पिता के सान्निध्य में वे ऐसे मस्त हो गए कि 40 दिनों तक उनका ध्यान ही नहीं टूटा। तो यह लिखा हुआ है कि वे घुटने टेककर के और अपने पिता के अनुराग में जो-जो जी में आता था, सब भगवान को सुनाते जाते थे, सुनाते जाते थे और प्रेम के

आवेश में अश्रुपात होता रहता था। बातें होती रहती थीं, जो-जो जी में आता कहते रहते थे। ऐसा करते-करते सुबह से शाम हो जाए, शाम से सवेरा हो जाए, तो गाँव से, नगर से, बस्ती में से कौआ पक्षी घरों से रोटी के टुकड़े मुख में चोंच में पकड़कर ले आते और ईसा के पास रखकर चले जाते थे।

तो ऐसा नहीं होता है कि अगर हम अविनाशी जीवन के लिए अचाह पद को स्वीकार करेंगे तो शरीर का भरण-पोषण नहीं होगा। ऐसा नहीं होता है। होगा और बढ़िया से होगा और सहज भाव से होगा। अपने लिए एक परीक्षा की घड़ी होती है, कि हम धीरज पूर्वक इस सत्य में विश्वास करें कि मैंने अगर शरीर को अपना मानना छोड़ दिया तो जैसे आप अनाथ नहीं हैं, वैसे यह शरीर भी अनाथ नहीं है। ठीक है? किसी की property है न भई, अब आप बीच में दखल जमा कर बैठिएगा कि मेरी है, तो देखभाल करने का भार आप पर आना चाहिए कि नहीं चाहिए। आना चाहिए। जब आप लेकर बैठ जाइएगा कि भई यह तो मेरा है यह तो हमारे ही काम आएगा। इसको तो सँभालने वाला मैं ही हूँ। तो दूसरे की property है, उस पर आप अपने नाम का stamp लगा कर अपने कब्जे में रखिएगा तो उसको सँभालने का भार भी तुम ढोओ। समझ में आ रहा है। लेकिन जो त्रिगुणातीत पुरुष होना चाहते हैं, जो देहातीत निज स्वरूप में स्थित होना पसंद करते हैं, उनका पहला पुरुषार्थ होता है कि शरीर के सहित सारे संसार से ममता का सम्बन्ध तोड़ दो। यह मेरा नहीं हैं तो मेरा नहीं है तो जगत् का है, तो मेरा नहीं है तो परमात्मा का है, मेरा नहीं है ऐसा करके जो सम्बन्ध तोड़ लेता है, तो जिसकी सम्पत्ति है, जिसकी property है, वह उसको सँभाले बिना छोड़ कैसे देगा।

तो वह छोड़ता ही नहीं है, वह सँभालता है। अब ईश्वर-विश्वासी जो होते हैं वे देह-देही विभाजन के ज्ञान में नहीं फँसते उस रास्ते में नहीं

सोचते हैं। ईश्वर-विश्वासी जो होते हैं वे सर्वस्व अपने सहित अपने पास जो कुछ है, सब भगवान के समर्पित कर देते हैं। समर्पित मैं क्या करूँगी ? वह तो उनका था ही पहले से। तो जब साधक अपनी ओर से उस पर से अपनी ममता हटा लेता है तो जिसके नाम पर उसने छोड़ दिया वह मालिक अपनी चीज को सँभालेगा कि नहीं सँभालेगा ? जी ! सँभालेगा तो वह सँभालने लग जाता है। और साधक जो है वह बिल्कुल शरीर की बिल्कुल न्यूनतम आवश्यकताओं की भी बिल्कुल परवाह नहीं करता। स्वामी जी महाराज ने कहा है एक जगह टेप किया हुआ है कि भई अचाह पुरुष कुछ चाहते नहीं हैं और भोजन के सम्बन्ध में भी उनको कुछ सोचना नहीं पड़ता और किसी बात में सोचना नहीं पड़ता। क्यों ?

क्योंकि उनको पूरा पक्का विश्वास है कि शरीर को भोजन चाहिए तो यह कभी हो सकता है कि शरीर को भोजन की आवश्यकता हो और शरीर का मालिक उसको भोजन न दें। ऐसा कभी नहीं हो सकता। जैसे मान लीजिए कि आप अपने साथ कोई सहायक ले लेते हैं, नौकर कहने का दिन तो अब चला गया, कोई सहायक आप ले लेते हैं कि चलो हमारे साथ हम यात्रा करने जा रहे हैं, मेरी सहायता करना। तो जब भोजन का समय होता है तो वह क्या खाएगा उसकी चिंता उसे होती है कि आपको होती है। ले जाने वाले को होती है। उसे सोचना पड़ेगा कि अब भोजन का समय आ गया है तो उसको क्या खिलाया जाएगा वह क्या खाएगा वह कैसे सुरक्षित रहेगा वह कहाँ सोएगा उसका क्या इन्तजाम करना है तो आप सोचिए कि इस संसार में 5 दिन 10 दिन, थोड़े दिन की अवधि में माने हुए सम्बन्ध का अगर यह परिणाम होता है कि जिसको आप अपनी सहायता के लिए अपने संग में लेते हैं तो उसके भोजन और उसके शयन और उसकी सुरक्षा की व्यवस्था की चिंता आपको होती है, होती है कि नहीं होती है ? होती है। तो वह जो अनन्त परमात्मा है, जो सारी सृष्टि का

मालिक है। वही इसका भी मालिक है। तो अगर मैं इसको ममता के बंधन से मुक्त कर दूँ कि यह मेरा नहीं है तो जिसका है वह इसको बहुत अच्छी तरह से सँभाल लेता है। केवल अपने में धीरज चाहिए, विश्वास चाहिए और सत्य की और प्रेम की लगन चाहिए। तो लगन वाले साधकों को तो याद ही नहीं आता है कि भोजन का समय हुआ है कि नींद का समय हुआ है कि कौन-सा समय हुआ है, उनको तो याद ही नहीं रहता है। वह धुन ऐसी मीठी होती है, वह लगन ऐसी तीव्र होती है कि जो निष्ठावान साधक है वह देह-धर्म से ऊपर उठ जाता है तो कुछ जरूरत ही नहीं रहती कुछ ध्यान ही नहीं रहता है। और जिन साधकों को ईश्वर समर्पण का बल है कि हमने सब कुछ प्रभु को समर्पित कर दिया है। तो उनको यह पक्का विश्वास रहता है कि जब भोजन का समय आएगा और शरीर को भोजन देने की जरूरत पड़ेगी, तो अगर भोजन देना जरूरी है तो मेरे मालिक जरूर देंगे। उनको बड़ा जबरदस्त विश्वास रहता है। वे कहते हैं कि कभी हो ही नहीं सकता कि भोजन का समय आ जाए और शरीर को भोजन की जरूरत हो और न मिले, ऐसा तो हो ही नहीं सकता। और कई अनुभवी संतों के मुख से मैंने सुना। उन्होंने कहा, किशोरी जी के गुरु जी महाराज कार्तिकेय जी महाराज जी का वचन है, कि भई जब से मैं साधु हुआ तब से आज तक कभी ऐसा नहीं हुआ कि भूख का समय आ गया हो और भोजन न आया हो। तो यह सच्ची बात है, यह जीवन का सत्य है और इसका अनुभव करना चाहिए, इसको धारण करना चाहिए और ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि जब हम अचाह हो जाएँगे तो शरीर की जरूरत कैसे पूरी होगी। एक बार करके देखो तो। और सोचते ही रहने से और चाहते ही रहने से सब जरूरतें पूरी हो जाती है क्या? जी, संसार में कितने बीमार ऐसे हैं, जो परेशान है कि मेरी बीमारी के लिए उचित इलाज जो जाए, दवाई मिल जाए, पथ्य मिल जाए तो सब बीमारों को

आवश्यक दवाइयाँ मिल जाती है, चिकित्सा हो जाती है, पथ्य मिल जाता है ? नहीं मिलता। चाहते रहने पर भी नहीं मिलता है और न चाहने पर भी बहुत आवश्यक बातें ऐसे ही पूरी हो जाती हैं। तो स्वामी जी महाराज ने अपने द्वारा इन बातों को करके दिखलाया हम लोगों को। अन्य सन्तों ने अपना अनुभव कह कर सुनाया है। और मानव सेवा संघ की बात जो है वह केवल सिद्धान्त के आधार पर नहीं है, जीवन का अनुभूत सत्य है। और जिन्होंने अनुभव किया पहले उन्होंने सिद्धान्त बनाया पीछे, पहले यह सत्य उनके अनुभव में आया और पीछे उन्होंने सिद्धान्त बनाकर हम लोगों के लिए रखा।

इसलिए साहस रखना चाहिए, डरना नहीं चाहिए और क्या करना है शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करके। करते-करते भी आखिर एक दिन तो यह जाएगा ही। समय का सदुपयोग कर लिया जाए। किसी के जी में कोई बात हो तो पूछिए इस प्रश्न में एक बड़ा रहस्य है। और प्रश्न बड़ी सच्चाई का है। ऐसा अनुभव अन्य साधकों को भी होता है, मैंने भी समय-समय पर ऐसा अनुभव किया है।

अपने आराध्य के प्रति चिंतन, भजन, ध्यान उनको याद करना, उनके प्रेम की भिक्षा माँगना तरह-तरह की बातें हैं। जिस किसी साधक को जैसे सूझता है वह अपने आराध्य में फँसा रहना चाहता है। ये सब मेरी भाषा है अपने को समझाने के लिए, आप लोग भी, यह सहज भाषा है समझ सकेंगे कि बड़ा एक शौक होता है साधक का और खास करके नए-नए जो बनते हैं उनको शौक और भी जोर से होता है कि हम तो अब 24 घण्टे निरन्तर अपने आराध्य में ही लगे रहेंगे, अपने साध्य में ही उलझे रहेंगे। ऐसा एक शौक होता है। क्योंकि हम लोग सुनते हैं कि भई निरन्तर भजन करते रहने से परमात्मा मिल जाते हैं। तो ऐसी एक बात साधक के जी में होती है फिर एक दूसरी बात भी होती है। और दूसरी बात क्या

होती है ? कि अलग-अलग साम्प्रदायिक विधि-विधान के अनुसार जो लोग वैष्णव मत में दीक्षित होते हैं और परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। तो उन साधकों के लिए अनेक प्रकार के नियम बनाए जाते हैं कि इस प्रकार से आपको अपने आराध्य का चिंतन करना है, ध्यान करना है, भजन करना है, याद करना है, मंत्र जपना है इत्यादि। तो साधकों का यह अनुभव है कि किसी-किसी समय परमात्मा में उनका खूब मन लगता है, बड़ा उत्साह आता है, बड़ा अच्छा लगता है, बहुत मस्ती आती है और किसी-किसी समय शिथिलता आ जाती है, उतना अच्छा नहीं लगता कुछ, दूसरी-दूसरी बातों में ध्यान चला जाता है।

तो इसके सम्बन्ध में अनुभवी संत के द्वारा एक बड़ा ही रहस्यमय वचन मैंने सुना था। बहुत रहस्यमय वचन है वह और साधकों के रास्ते से शिथिलता का पत्थर हटाने के लिए बहुत बढ़िया उपाय है। वह क्या है ? कि जब ईश्वर-विश्वासी साधक परमात्मा को अपना आराध्य मान करके और उनको लाड़ लड़ाते रहना पसंद करने लगता है कि भई जैसे भी हो हम तो उन्हीं में लगे रहेंगे। ऐसा करने में साधक को कभी-कभी बहुत आनन्द आता है खूब मन लग जाता है, बड़ा आनन्द आता है। तो अनुभवी संत ने मुझे यह सलाह दी कि भई वह जो रस का प्रवाह तुम्हारे भीतर उमड़ा परमात्मा के सम्बन्ध से, तो भजन में मन लग जाने का रस जो उपजा है, उस रस का तुम भोग मत करना यह रहस्य है। तो साधक को अच्छा लगने लगता है। और अच्छा लगने लगता है इस हद तक कि वह सोचने लगता है कि अब क्या, अब तो मैं परमात्मा में लग गया, अब तो मेरा मन परमात्मा में बहुत लगने लगा।

अब तो हम अच्छे भक्त हो गए। ऐसा जो उसके भीतर एक अच्छाई का भास होने लगता है, तो जो रस भक्त में उपजा था अपने आराध्य को अर्पित करने के लिए, उस रस का भोगी वह भक्त स्वयं बन जाता है तो

भाव में शिथिलता आ जाती है। बड़ी भीतरी बात है, बड़ी गहरी बात है। लेकिन अपन तो लैक्चरार ठहरे हमेशा के तो कुछ खास नहीं मालूम होता है। गहरी बात हो, रहस्य की बात हो छिपी हुई बात हो तो लाओ भई बैठे हैं साधक लोग सुनने के लिए, तो इनको सुना दो। तो जो लोग इस पथ में चलने वाले साधक है, उनको इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जब अशान्ति हटकर के शान्ति आए तो उस शान्ति के रस का भी भोग न किया जाए। मानव सेवा संघ के साहित्य में जगह-जगह ऐसा लिखा गया है, कि शान्ति में रमण मत करो।

तो बड़ी शान्ति आ गई, बड़ा अच्छा लग रहा है। बड़ी शान्ति आ गई, बड़ा अच्छा लग रहा है तो मुझको याद आता है कि बड़ी शान्ति आ गई बड़ा अच्छा लग रहा है तो कई बार मैंने महाराज जी को निवेदन किया कि महाराज एक जन्म की तो कौन कहे अनेक जन्मों का थका हुआ साधक, किन-किन बातों से थक गया है, लोभ से थक गया है, मोह से थक गया है काम, क्रोध से थक गया है और संसार की प्रतिकूलता से संघर्ष करते-करते थक गया है। यह थकान अपने को आती है कि नहीं? जी! आती है। तो मैंने महाराज जी को कहा अपने लिए कि एकदम से तो थका हुआ जो साधक है। काम, क्रोध, मोह, लोभ से छुट्टी भी नहीं मिली और इन विकारों को लेकर संसार में चलने में भीतर भी संघर्ष करना पड़ता है अपने विकारों को दबा करके control में रखने के लिए और बाहर की प्रतिकूलताओं के साथ भी जूझना पड़ता है।

आपने क्या ऐसे अनुभव नहीं किया? किया है। जी, भीतर बाहर दोनों ओर संघर्ष है तो इसमें आदमी थक जाता है और थके हुए साधक को अपने आराध्य की शरणागति लेने पर भीतर में जब विराम मिलता है तो उसको बड़ा अच्छा लगता है। अच्छा तो लगेगा ही। तो अच्छा लगता है तो उसमें से 2-3 प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती है। एक तो उसको यह

feel होता है कि अच्छा लगता है फिर उसको यह चमत्कार मालूम होता है कि भई सत्संग तो बड़ी बढ़िया बात है और साधना तो बड़ी ऊँची चीज़ है। आज तक जीवन में कभी भी मुझे चैन नहीं मिली थी अब इस साधना के फल से तो बड़ा आराम लग रहा है। यह बड़ी ऊँची चीज है और उसके बाद पीछे से बहुत ही सूक्ष्म पतला सा वेश बना करके अहंकार जगता है कि मैं तो बहुत अच्छा साधक हूँ। यह नहीं आता कि गुरु महाराज ने कह दिया और मैंने मान लिया और मैंने जीवन में प्रयोग करके देख लिया और परिणाम में यह शान्ति मेरे हाथ में आ गई। तो थोड़ा सा भीतर में यह भी भास अपने में जगता है कि दूसरे लोग तो सोचते रहते हैं, पूछते रहते हैं, करते धरते कुछ नहीं है, हम तो औरों से कुछ अच्छे हैं। क्या किया—संत ने जो कहा सो सुन लिया और वैसा कर लिया तो हमको तो फल देखने में आ गया। बस जहाँ यह भास आया कि दूसरे लोगों से मैं कुछ अच्छा साधक हूँ। मैंने सच्चाई से भगवत् समर्पित किया अपने को। मैंने सच्चाई से कर्त्तव्य-पालन किया, मैंने सच्चाई से शरीरों से संग छोड़ा जहाँ यह भास आया तो वह जो प्रेम का भाव उमड़ रहा था, मन, चित्त, बुद्धि सब जिसमें भीग-भीग करके मधुर रस से तर हो रहे थे वह अहंकार जगा नहीं कि रस का दरवाजा बन्द हुआ। यह है। तो सावधानी क्या रखी जाएगी? सावधानी यह रखी जाएगी कि कर्त्तव्य-निष्ठा के उपरान्त आने वाली शान्ति यह भी मंजिल नहीं है, यह रास्ते पर जाने का बढ़िया सा पड़ाव है। उसके बाद और बढ़ रहा है और उमंग बढ़ रहा है। तो महाराज जी समय-समय पर मेरी दशाओं का उनको तो परिचय ज्यादा अच्छा था, मैं तो केवल ऊपरी-ऊपरी सतह का वर्णन करती थी। महाराज हमारे भीतर प्रवेश करके अन्तर की दशा का परिचय करते और मुझको बता देते।

तो 1-2 बार उन्होंने संकेत दिया और यह कहा कि देखो जिस रस का प्रवाह साधक के हृदय में आता है उस प्रेमास्पद को अर्पण करने के

लिए, उसका तुम्हीं भोग करने लग जाओ, तो प्रगति शिथिल हो जाएगी। तो मैं भोग करने लग गई इसका मतलब क्या है कि बड़ा अच्छा लग रहा है यह भी एक भोग हो गया। उसके बाद मैं बहुत सावधान साधक हूँ तो यह भी उसका एक भोग हो गया। तो समर्पण-भाव के कारण से अहं थोड़ा कोमल नरम हुआ था और अपने को विशेष मान लेने से वह फिर कठोर हो गया तो जब कोमल बना था तो उस रस में भीग रहा था, रस से वह तर हो रहा था और अहं आ गया तो कठोर बन गया इसलिए शिथिलता आ गई। इन्द्रियों से सम्बन्ध रखने वाला साधक, उसको इन्द्रियों के स्तर पर अनुभव करता है, इसलिए उसकी यह स्थिति बन जाती है।

प्रश्न दोनों बढ़िया हैं पापा ! अपनी-अपनी योग्यता अपनी-अपनी बनावट है। और बात ऐसी है कि एक तो होता है कि गुरु महाराज ने मुझे दीक्षित किया और परमात्मा से मेरा सम्बन्ध दिलवा दिया। तो समझा बुझा कर किसी तरह से मैंने माना कि प्रभु से ही मेरा नित्य सम्बन्ध है लेकिन जिस दिन हम मानते हैं उसी दिन यह मेरा माना हुआ सम्बन्ध इतना सजीव नहीं होता कि स्मृति मात्र से मुझे रस से तर कर दे। ऐसा नहीं होता। तो महाराज जी कहते हैं कि जब तुम संसार से सम्बन्ध तोड़ोगे तो प्रभु से सम्बन्ध तुम्हारा जुड़ जाएगा। तो जुटा हुआ तो पहले से था ही और गुरु, के कहने से मैंने स्वीकार भी किया लेकिन मेरी स्वीकृति जो है, वह मेरे जीवन को रसरूपा बनाएगी। कब बनाएगी ? जब इधर से तोड़ेगे तब बनाएगी।

तो दोनों बातें एक संग चलती है इधर से तोड़ो भी उधर से मानो भी। तो नहीं को इंकार करो और है को स्वीकार करो। यह दोनों साथ-साथ चलता रहता है और कोई-कोई साधक ऐसे हुए कोमल भावनाओं के कि जिन्होंने एक ही साथ मान लिया तो सबको छोड़ देता है। कोई पहले परमात्मा मानकर संसार को छोड़ता है तो परमात्मा को मानकर के संसार

को छोड़ देता है और परमात्मा को मान लेता है। इसमें कोई उपाय बढ़िया और कोई उपाय घटिया ऐसा नहीं है। जिससे जैसे बने इतना ही करना है बस। इस प्रश्न के उत्तर में प्रारम्भ में मुझे सूझी थी, व्याख्या करते-करते मैं भूल गई थी बहुत जरूरी बात है और वह यह है। महाराज जी ने साधकों का ध्यान इस ओर बहुत दिलाया कि जब तुम्हारे भीतर आराध्य की आराधना में भाव की वृद्धि होने लगे तो उसको बाहर प्रकट मत होने दो।

यह बड़ा रहस्य है। क्या कहा उन्होंने ?उन्होंने यह कहा कि आराध्य की आराधना में जब उनकी कृपा से तुम्हारे भीतर भाव बहने लगे, तो उन भावों को अगर तुम क्रिया के रूप में प्रकट कर दोगे तो भीतर से वह निकल कर खर्च हो जाएगा तो शिथिलता आ जाएगी। तो जहाँ तक हो सके छिपाओ उसको भीतर, उसका उपभोग भी मत करो, उसको खुराक भी मत बनाओ और भीतर से उठने वाले भाव को क्रिया में प्रकट भी मत होने दो। तो जैसे भक्तों के, विश्वासी साधकों के आँसू आने लगते हैं तो कई साधकों को मैंने देखा है कि आँसू बहाने को ही वे लोग खुराक बना लेते हैं और सोचते हैं कि यह बड़ी अच्छी साधना है, हमारे तो बहुत आँसू आ रहे हैं। तो महाराज जी ने कहा कि भीतर पचाओ भई। यह बह जाएगा तो खर्च हो जाएगा। तो भाव को क्रिया में व्यय मत करो। भाव को भीतर एकदम छुपा के रखो। खुद भी भोग मत करो और बाहर प्रकट भी मत होने दो। किसी को प्रकट मत होने दो दिखाओ मत किसीको, बताओ मत किसीको। छिपा के रखो अन्दर एकदम बड़ी कीमती चीज है।

•

प्रवचन 15

उपस्थित संत महानुभाव सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

मानव सेवा संघ की दृष्टि से मनुष्य के जीवन में ईश्वर-विश्वास का क्या महत्त्व है, इस पर हम लोग विचार कर रहे हैं। ईश्वर-विश्वास एक ऐसा विलक्षण तत्त्व है हमारे जीवन का, कि जिस किसी भाई-बहन ने इस सत्य को स्वीकार कर लिया कि परमात्मा है और इन्हीं से मेरा नित्य सम्बन्ध है, केवल इतनी बात मान लेने से ही चमत्कार पूर्ण परिवर्तन अपने आप में आता है ।

महाराज जी का एक छोटा सा Note एक दिन मेरे पास मिला। बड़ी बढ़िया भाषा में है। दो चार पंक्ति सुना करके फिर चर्चा करती हूँ। कह रहे हैं परमात्मा है, यह सुनने के लिए कितनी भूमिका तैयार चाहिए। अब आप सोच करके देखो कि हम लोग भूमिका तैयार करके सुनने आए हैं क्या? मैंने ऐसा सुना है, कि पुराने समय में अनुभवी संतजन वन में निर्जन में रहा करते थे और नगरों में से कोई-कोई जिज्ञासु जब सत्य की जिज्ञासा से अथवा प्रभु-प्रेम की अभिलाषा से व्याकुल होता तो भाग-भाग करके वन में संतों के पास जाता और अपनी बात बताता उनको, तो कई उदाहरण ऐसे सुने गए कि वे संत उनको कोई न कोई सेवा बता देते। यह तो ठीक है तुमको इस प्रश्न का उत्तर चाहिए, मिल जाएगा। कैसे मिलेगा महाराज? तो महाराज ने उस आदमी की दयनीय दशा देखकर के कोई सेवा बता दी, करते रहो।

करते रहे, करते रहे, करते रहे बड़ी लगन से 2 महीनें 4 महीनें, साल दो साल बीते, बीच-बीच में जाकर के फिर पूछते। महाराज मेरे प्रश्न का उत्तर? अच्छा मिल जाएगा। चलो, करते रहो, करते रहो, तो अर्थ क्या है? कि अनुभवी संतजन साधक को कोई सत्य सुनाने के लिए पहले उसको तैयार किया करते थे। सुख का भोग छूट गया, आलस्य छूट गया,

सुविधा पूर्वक रहना छूट गया और तन-मन सब शक्ति, सब योग्यता संत की सेवा में लग गई। तो अपनी स्वाधीनता चली गई अपने संकल्प से काम करना खत्म हो गया। यह सारी तैयारी संत जन जिज्ञासु की करा लेते थे और तब मैंने सुना है, उनको कोई वाक्य सुनाया जाता था। तैयारी के बाद खास विधि-विधान से, खास समय पर।

ऐसा मैंने सुना है। तो उस दिन जब मैं देख रही थी महाराज जी के प्रवचन का जो एक note मेरे पास है, तो उसमें यह गद्य-खण्ड मिला मुझे। वे कह रहे हैं कि परमात्मा है, यह सुनने के लिए कितनी भूमिका तैयार चाहिए। पहले से कितनी तैयारी करोगे, तब इस वाक्य को सुनने के अधिकारी बनोगे। नहीं तो क्या होता है, कि हम सुनते जाते हैं, सुनते जाते हैं और जाकर के भीतर में कहीं पर stamp लगाता ही नहीं है। कहा हुआ, सुना हुआ, भीतर पता नहीं क्या-क्या कूड़ा-कबाड़ भरा हुआ है। संत की वाणी सुन लेते हैं हम कान से, लेकिन अहं पर जाकर वह stamp लगाता ही नहीं है। उठ जाता है तो फिर उसी को सुनने के लिए दुबारा आते हैं। तो फिर उसी को सुनने के लिए और प्रयास करते हैं। तो मुझे यह वाक्य बड़ा अच्छा लगा।

महाराज जी ने उत्तर क्या दिया है ? अपने से, अपनी ओर से बताया है। परमात्मा है, यह सुनने के लिए वह तैयारी चाहिए, जिसमें सारा संसार दु:ख रूप मालूम होने लगता है। तो सोचा मैंने तो हमने कहा कि तब तो हम अधिकारी ही नहीं हुए क्योंकि सारा संसार अभी तो दु:ख रूप मालूम नहीं हो रहा। अभी क्या हो रहा है ? कि मन के प्रतिकूल कोई-कोई परिस्थिति दु:ख रूपिणी लग रही है। ठीक है न, मन के प्रतिकूल कोई-कोई परिस्थिति के साथ रहना दु:ख रूप मालूम हो रहा है। सारा संसार तो दु:ख रूप हुआ ही नहीं, इसलिए परमात्मा है यह वाक्य मेरे व्यक्तित्व पर stamp नहीं लगा पाता है।

दूसरा point है इसी में, अपनी असमर्थता की गहरी पीड़ा होनी चाहिए। दो बातें हो गईं न। ऐसे तो बहुत कुछ हो सकता है। लेकिन यह उनकी मौज थी किस लहर में बोल रहे थे, पता नहीं। हमारे पास इतना ही लिखा हुआ है और यह है 9.5.73 गीता भवन में वट वृक्ष के नीचे बातचीत हो रही थी, उसमें से इतना मैंने लिखा है। 1973 के मई महीने 9 तारीख की वार्ता है यह। अपनी असमर्थता की गहरी पीड़ा होनी चाहिए। तो यह भूमिका तैयार हो जाए तब हम इस वाक्य को सुनने के अधिकारी बने कि परमात्मा है।

इतनी तैयारी के साथ परमात्मा को सुनने से उसे मान लिया जाता है। इतनी तैयारी करके सुनने चलेंगे, तो मानने की सामर्थ्य आ गई, फिर परमात्मा उसका अभाव मिटा देते हैं। बहुत बढ़िया बात है। परमात्मा उसका अभाव मिटा देते हैं, फिर उसका दु:ख मिटा देते हैं, फिर उससे मिल भी लेते हैं। शरणागति स्वीकार करते ही मोह का नाश हो जाता है। भक्त तत्त्व-ज्ञानी हो जाता है करते-करते। अभी हम लोग इस विषय पर बातचीत कर रहे हैं कि ईश्वर को मानने की आवश्यकता क्या है? ईश्वर को मानने में अपने लोगों को तैयारी कितनी चाहिए? तो कुछ बातें साधन-काल की आपकी सेवा में निवेदन करूँ। अगर मैं पूछूँ आप भाई-बहनों में से कितने साधक ऐसे हैं, जो ईश्वर को मानते हैं।

ऐसा मैं पूछूँ तो बहुत ही तत्परता के साथ हमारे सभी भाई-बहन हाथ उठा देंगे। ठीक है न? इसमें कोई झूठी बात नहीं है, कोई गलत बात नहीं है। हम सब लोग उनको मानकर के बैठे हैं। लेकिन अब इसके साथ ही अपनी दशा को देखें। ईश्वर को मानने वाले का जीवन कैसा होना चाहिए? कैसा होना चाहिए तो सबसे पहली बात है कि उसके जीवन में से अभाव खत्म हो जाना चाहिए। जी! ठीक है न? जीवन में अभाव

सताता है, इस बात का अनुभव आप सभी अपने-अपने ढंग से करते होंगे, मुझे पता नहीं है कि कैसा-कैसा अपने लोगों को लगता है लेकिन अपनी बात मैं जानती हूँ।

अपना पता मुझे है। छोटी उम्र से खूब खेल रहे हैं, खूब पढ़ रहे हैं, खूब मित्र-मण्डली में सखी सहेलियों के साथ, तो किसी भी प्रकार से मुझको भीतर से उतनी प्रसन्नता लगती ही नहीं थी कि जितनी लगनी चाहिए। तो खेलते-खेलते मैं रुक जाती और सोचती कि बस हो गया। इतना ही मजा है, इससे तो मेरा जी भरा नहीं और मिलना चाहिए। और मजे की खोज में चलो और खेलों और खाओ और पहनों ऐसा करते ही करते थोड़े समय में इतनी घनी प्रतिकूलता सामने आ गई। सब प्रेम का जो वातावरण माता-पिता के लाड़-प्यार दुलार का, खेलने का, कूदने का वह सब एकदम एक भयंकर घोर दुःखद परिस्थिति में समय बदल गया, तो अब उसके बाद अभाव की पीड़ा का क्या कहना?

तो वह बढ़ता ही गया, बढ़ता ही गया और जब मैं संत के पास पहुँची तो इस प्रश्न को लेकर पहुँची कि क्या मनुष्य सारी जिन्दगी अभाव की पीड़ा को सहते रहने ही के लिए पैदा हुआ है? क्या मनुष्य हमेशा अभाव में पड़ा ही रहेगा। यह अभाव मिटता नहीं है तो मैं अपने ढंग से साहित्यिक भाषा में बोला करती स्वामी जी से महाराज जी, मैं तो अभाव का अभाव करने आई हूँ। अभाव का अभाव कैसे होता है, यह मुझे सिखाओ, बताओ। तो अभाव की पीड़ा को जिन हमारी भाई-बहनों ने अनुभव किया है, उनको इस बात का प्रत्यक्ष आनन्द आ गया होगा कि ईश्वर हैं और मेरे अपने हैं। इस स्वीकृति मात्र से कैसे वह भीतर की कसक एक बेबसी की पीड़ा, अभाव का एक दुःख कैसे मिट जाता है, यह उन भाई-बहनों के अनुभव की बात होगी। मैं समझती हूँ कि साधारणतः साधक लोग क्या मान लेते हैं कि हम खूब आँख बन्द करके जप करेंगे,

ध्यान करेंगे, नाम लेंगे। ऐसा करेंगे ऐसा करेंगे। तो क्या होगा? तो उसका परिणाम यह होगा कि किसी दिन भगवान प्रत्यक्ष रूप में मेरे सामने खड़े हो जाएँगे, मुझ को दर्शन मिल जाएगा। मैं देख लूँ कि यह है भगवान। ऐसी बात, ऐसी कल्पना, ऐसा चिंतन भाई-बहनों के दिल-दिमाग में रहता है। साधकों से ऐसी चर्चा मैंने सुनी है। लेकिन जीवन का विश्लेषण करने की आदत जो मेरी थी पुरानी, उसमें मानव सेवा संघ का सिद्धान्त जो है वह एकदम cent percent fit बैठ गया। उसका मतलब यह है कि किसी क्षण में भगवान तुम्हारे सामने प्रकट दिख गए, दर्शन मिल गया तो इसको तुम साधन की सफलता मानो तो यह बेकार की बात होगी। क्यों? क्योंकि इसी पर साधक की दृष्टि अटक जाएगी।

वह हर समय ऐसे ही सोचता रहेगा। फिर क्या होगा? कि उसके संकल्प से उसके मानस की बनावट के अनुसार कभी कुछ ऐसा हो भी गया तो क्या हुआ? कभी-कभी एक झलक मिल गई और फिर वह छिप गई, तो कहाँ गया तुम्हारा ईश्वर-प्राप्ति का अनुभव? ठीक है न। सो नहीं है, ऐसा नहीं होता है। जीवन का विश्लेषण करके, व्यक्तित्व का विश्लेषण analysis की जो एक पृष्ठ भूमि थी मेरी उसमें महाराज की वाणी और साधन एकदम fit बैठ गया। क्या हो गया कि मैंने यह जाना कि जब साधक अपनी स्वेच्छा से जीवन की आवश्यकता को सामने रखकर परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर लेता है और उनको अपना मान लेता है, तो उसके भीतर अपने मैं जो कमी महसूस होती थी, अभाव-अभाव हर समय सताता रहता था, वह अभाव तत्काल ही मिट जाता है।

यह किसका फल हुआ? यह ईश्वर-विश्वास और सम्बन्ध को स्वीकार करने का फल हुआ। यह तो साधक की दृष्टि से हो गई और ऊपर से देखो तो और क्या हुआ? तो और यह हुआ कि जब सत्य की स्वीकृति आपने अपने लिए कर ली तो जो परमात्मा नित्य निरन्तर आप

ही में विद्यमान रहते आए है, सदा से उन विद्यमान परमात्मा का एक प्रभाव आपके अनुभव में आ गया। उनके तो और बहुत से प्रभाव है। लेकिन जहाँ से अपने ईश्वर-विश्वास का प्रभाव आरम्भ हुआ था, जो श्रीगणेश हुआ था वह मैंने आपकी सेवा में निवेदन किया। महाराज जी ने कहा न कि इतनी तैयारी के पश्चात परमात्मा को सुनने से उसे मान लिया जाता है। परमात्मा उसका अभाव मिटा देते हैं। तो पहले अभाव मिट जाता है, फिर दुःख मिट जाता है, फिर उनसे मिलना भी हो जाता है, फिर जीवन सरस भी हो जाता है।

तो आज अपने लोगों के लिए कौन-सा पाठ लेना है। हम सब लोगों को पाठ भी तो लेना है न, केवल सिद्धान्त तो नहीं सुनना है। ऐसा-ऐसा होता है, यह अनुभवी संत ने कह दिया। अब मैं क्या करूँ? मैं कैसे उस अनुभव को ग्रहण करूँ? तब आप सोच करके देखिए कि जिस समय से आपने प्रभु की सत्ता को स्वीकार किया, उनकी आत्मीयता को स्वीकार किया, अपने को उनके प्रेमी बनाकर रखना पसंद किया, उस समय से लेकर अब तक आपके जीवन की जो वर्तमान की दशा है उसमें परिवर्तन आया है कि नहीं आया है? देखने की बात है, अभाव सताता है कि अभाव मिट गया? भीतर-भीतर भरा हुआ लगता है, कि सूना-सूना लगता है? ऐसा देखना। तो जब वस्तु और व्यक्तियों की आसक्ति में आदमी फँसा रहता है तो आसक्ति का प्रभाव है नीरसता तथा अभाव और ईश्वर-विश्वास और भक्ति का प्रभाव है सरसता और पूर्णता। तो अगर भीतर-भीतर सूना-सूना लग रहा है, खाली-खाली लग रहा है, बाहर की वस्तुओं से मिलने-जुलने, बोलने की आवश्यकता मालूम हो रही है, व्यक्तियों से बातचीत करने की आवश्यकता मालूम हो रही है तो इसका मतलब यह है कि मेरा ईश्वर-विश्वास मेरे जीवन में सजीव नहीं हुआ। ठीक है न, बिल्कुल सच्ची बात है। कभी-कभी मुझे इतना दुःख होता है।

किसी-किसी साधक के दुःख से मैं जब सुनती हूँ। एक साधक पति-पत्नी आए और दोनों ही बहुत अच्छे पढ़े लिखे, समझदार और पैसे वाले भी, उन्होंने कहा कि हम आप के पास रहेंगे और एकान्त में रहेंगे, अपनी साधना में रहेंगे। पति ने बताया मुझे कि साधना के लिए मैंने घर-बार छोड़ दिया है और बहुत अच्छी नौकरी थी class one post थी Government में। जो दे सकते थे सो मैंने दे दिया। 2-4 दिन वे लोग मेरे पास नहीं आए, रहे अपनी साधना में। उसके बाद वह महिला निकल कर आई मेरे पास और कहने लगी, माता जी अकेले-अकेले तो रह कर आदमी पागल हो जाएगा। तो मैंने मन में सोचा कि अरे मेरी बहनी, मैंने कब कहा था कि तू अकेले बैठ। हमने कब कहा था। फिर मैंने उन लोगों को बैठा कर बातचीत की। हमने कहा कि इसका अर्थ यह है कि जिस सत्य को तुमने स्वीकार किया, जिस साधना की line को तुमने पकड़ा, उसने तुम्हारे जीवन का स्पर्श नहीं किया है। नहीं तो अकेलापन कैसे सिद्ध होगा, क्यों मालूम होगा कि मैं अकेले हूँ। वह तो वस्तुओं और व्यक्तियों का सम्बन्ध जो है वह व्यक्ति के भीतर हृदय में नीरसता, शुष्कता, अकेला-पन भर देता है।

आसक्ति के कारण तुमको भीतर-भीतर सूना लगता है, तो भ्रम वश तुम बाहर-बाहर से बातचीत करके, काम-धाम करके घूम फिर करके अपने को बहलाना पसंद करते हो। नहीं तो सच्ची बात क्या है? सच्ची बात यह है कि जिसने सत्य को स्वीकार किया, उसकी स्वीकृति मात्र से उसके जीवन में ऐसी लगन लग जाती है कि अपने से भिन्न किसी की आवश्यकता ही नहीं रहती है। तो एक कसौटी मैं यह रखती हूँ अपने भाई-बहनों के लिए। बहुत आत्मीयता की बात है, बहुत ही प्रियता की बात है कि आलोचना की दृष्टि से नहीं, किसी साधक को छोटा समझ कर नहीं। हम सभी प्रभु-प्रेम-पंथ के पथिक है। बड़ा अच्छा होगा कि हम सबका सामूहिक संकल्प एक-दूसरे को शक्ति प्रदान करता रहेगा और अपने रास्ते पर हम जहाँ भी रहेंगे सब एक साथ आगे बढ़ते रहेंगे।

आज संत-धाम में हम सब इस पवित्र उद्देश्य से इक्ट्ठे हुए हैं। 22 तारीख को समारोह पूरा हो जाएगा, ये सारी मूर्तियाँ बिखर जाएँगी। जगह-जगह पर चली जाएगी तो शरीर से भले हम एक दूसरे से दूर हो जाएँ परन्तु एक संत की कपा की छाया में हमने अपने को साधक करके स्वीकार किया। एक परमात्मा की प्रेम की गोद में हम लोगों ने जीवन धारण किया है। और उसी की कृपालुता उसी की मंगलकारिता के आधार पर हम आगे बढ़ना चाह रहे हैं। सृष्टि में हम सभी भाई-बहन एक है और हम सबके हृदय में यह भाव होना चाहिए कि हे परमात्मा, हे मेरे प्यारे, हे मेरे प्रभु हम सब भाई-बहनों का कल्याण करो। तो इस सद्भावना में शरीर की दूरी से कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

ठीक है न? तो इसी भाव से मैं कह रही हूँ कि हम लोगों को अकेले बैठ करके अपना नंगा चित्र अपने सामने रख कर के देखना चाहिए कि मेरी स्वीकृति और मेरी साधना ने मेरे हृदय को स्पर्श किया कि नहीं किया कि प्रभु हैं। हम कहेंगे कि आप इन्कार करिए कह दीजिए कि नहीं है तो आप लोग कहेंगे यह कैसी बात कह रही हैं बहन जी यह कैसे हो सकता है। हम न कैसे कह दें। तो कहने के लिए तो हम न नहीं कहेंगे लेकिन मेरा जीवन इस बात की ओर संकेत करता है कि नहीं।

अकेले-अकेले इन सब बातों पर मैं विचार करती रहती हूँ, तरह-तरह की बातें सूझती रहती हैं। अब देखिए कितने प्रकार के लोगों से व्यवहार करना पड़ा। अगर आप किसी से झूठमूठ को बात बना रहे हैं, मन में है कुछ और मुख से बोल रहे हैं कुछ। क्या यह नहीं कहा जाएगा कि उस समय आपने उस सर्वव्यापी परमात्मा के अस्तित्व को इन्कार कर दिया होगा। जी! ठीक है न?और नहीं तो भक्त क्या करता है? अपनी ही भूल से पीड़ित हो करके , अधीर हो करके भक्त कहता है—का मुख ले

विनती करूँ, का मुख ले विनती करूँ लाज आवत है मोहि, तू देखत अवगुण कियो कैसे भाऊँ तोहि। अब हृदय पर हाथ रखकर सोचो। तो सत्य से भटक कर के, सत्य से विछिन्न होकर करके जब हम लोग कुछ करते हैं तो उस समय याद रहता है क्या, कि मेरा सर्वज्ञ प्यारा, सर्वव्यापी प्यारा देख रहा है, याद आता है? अगर याद आता है तो हम लोग सत्य से हट करके कुछ कर ही नहीं सकते हैं और अगर याद नहीं आता है, अपने को बुद्धिमान सोच करके दूसरे की अजानकारी का अनुचित लाभ उठा रहे हैं तो जिस समय ऐसी प्रवृत्ति में लगा है कोई, उस समय ईश्वर के अस्तित्व को उसने इन्कार कर दिया कि नहीं कर दिया? जी! कर दिया। आप भक्त हो गए कि नहीं। प्रभु का नाम सुन कर आपके अश्रुपात हो रहा है कि नहीं कि भाव-समाधि में आप डूबे हैं कि नहीं कि आपके अहं का लोप हो गया है कि नहीं।

यह तो पीछे की बात है। देखा जाएगा विकास होगा तब यह बातें होंगी। लेकिन आज की अपनी प्रारम्भिक दशा तो देखो कि हम सब लोग ईश्वर-विश्वासी बन कर बैठे हैं और सत्य वचन की जगह मिथ्या वचन का प्रयोग कर रहे हैं तो जिस किसी से हम झूठ बोल रहे हैं, उसके भीतर हमारा सर्वज्ञ प्यारा मौजूद है कि नहीं है? है, तो उस भक्त की भाँति क्या मेरा हृदय फटना नहीं चाहिए इस अपनी भूल से। का मुख ले विनती करू लाज आवत है मोहि, तुम देखत अवगुण कियो कैसे भाऊँ तोहि। यह पीड़ा होती है क्या? अगर होती है तो वह समर्थ तत्काल ही उसे परम पवित्र बना लेता है।

देर थोड़े लगती है, देर नहीं लगती है। जहाँ भीतर में अन्दर में ग्लानि पैदा हुई कि हाय-हाय यह मैंने क्या किया, अपने प्यारे के देखते-देखते मैंने ऐसे वचन मुँह से निकाले जो कि नहीं निकालने चाहिए थे। अपने प्यारे की उपस्थिति में उनके इस प्राणी का तिरस्कार किया मैंने,

क्या समझा मैंने, कड़े वचन सुनाए मैंने। हाय-हाय मैंने यह क्या किया। तो जिस समय ईश्वर-विश्वासी के हृदय में ग्लानि उत्पन्न होती है कि हाय मैंने तो, जो नहीं करना चाहिए था, वह कर डाला, अब क्या करूँ ?

तो जिस समय अन्तर में अपनी भूल के लिए ग्लानि पैदा होती है, उसी समय वह अर्न्तयामी प्रभु उसको साधु के समान पवित्र बना देते हैं। पता नहीं, ईश्वर-वाद का क्या अर्थ लिया जा रहा है ? खास वेश-भूषा हो गई तो ईश्वर-वादी हो गए। खास प्रकार का रहन-सहन बना लिया तो ईश्वर-वादी हो गए। तो वेश-भूषा, रहन-सहन का तरीका यह सब तो बाद की बात है, बाहर की बात है। अन्तर की दशा तो देखो कि जिस विश्वासी का विश्वास मैंने धारण किया, उसने मेरे हृदय को स्पर्श किया कि नहीं। अगर उस विश्वास से मेरा हृदंय जुट गया है, अगर मेरे विश्वास में इतनी सजीवता है तो मेरे हृदय में कोमलता आ जानी चाहिए थी, मधुरता आ जानी चाहिए थी, गैरियत की भावना मिट जानी चाहिए थी। अहं का अभिमान गल जाना चाहिए था। हृदय की कठोरता घट जानी चाहिए थी कि नहीं ?

एक भोली भाली साधक महिला बहन हमारी, एक दिन आकर के मुझ कहने लगी किसी संत के बारे में। चर्चा हम लोगों ने की थी तो संत की घटना ऐसी है कि वे प्रभु की आराधना में भोर में 4 बजे बैठे थे। तो जिनके हृदय का तार परमात्मा के साथ जुट गया है, उनकी याद में इतना प्रेम उमड़ता है कि समय और स्थान का भास खत्म हो जाता है। शरीर का भास नहीं रहा तो Time & place रहेगा कैसे ? काल और स्थान खत्म हो गया। बहुत देर हो गई जो काम प्रतिदिन किया करते थे वह नहीं कर सके। तो जब उनके ध्यान में आया तो वह दौड़ करके गए कि आज मुझे बड़ी देर हो गई। मुझे समय पर पहुँचना चाहिए था। जो काम मेरे

जिम्मे था मुझे करना चाहिए था तो सबको बड़ी तकलीफ हुई होगी। दौड़कर के गए देखने पूछने कि किसने किया होगा, कैसे काम हुआ होगा? तो वहाँ के लोगों ने बताया कि तुमको हो क्या गया? तुम ठीक समय पर आए तो थे। तुमने सब काम किया तो। तो वे समझ गए, वे व्याकुल हो गए कि अरे, यह कैसी मेरी पूजा? मेरे प्यारे को मेरी जगह पर झाड़ू लगाना पड़ा, बिस्तर बिछाना पड़ा, टोकरी उठानी पड़ी बहुत व्याकुल हो गए। यह कथा मेरी उस बहन ने सुन ली थी तो एक दिन आई मेरे पास और कहने लगी दीदी एक बात बताओ मुझे।

मैंने कहा बोलो भाई क्या बात है? तो उन्होंने कहा, उस संत का नाम लिया हम लोग जानते हैं खूब परिचित संत हैं, उनका नाम लिया और कहने लगी कि वे तो भूल गए थे, तो भगवान् ने उनकी जगह झाड़ू लगा लिया सब काम कर दिया और दीदी मैं तो सो गई थी, तो मेरा काम तो भगवान् ने किया ही नहीं। हृदय का भोलापन है। लेकिन हँसी आ गई मुझे भी, जैसे आप सभी हँस रहे हो। भक्ति का अगर यह अर्थ कोई लगाए कि मैं सो जाऊँ, मुझे नींद आ जाए और भगवान मेरी जगह पर सब काम कर दे तो यह तो बड़ी भारी भूल होगी। भक्त तो ऐसा नहीं कहते हैं, भक्त तो ऐसा नहीं चाहते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास जी के लिए आप लोगों ने सुना होगा कि रामायण की प्रतियाँ लिख-लिख करके वे रखते थे कुटिया में। तो पुराने उस समय के पंडित लोग जो थे, उनमें बड़ा द्वेष पैदा हो गया कि इसका बड़ा नाम हो रहा है तो उन्होंने चोरों को भेज दिया रात में कि जाकर के उनकी कुटिया में से लिखी हुई प्रति चुरा लाओ। तो चोर जब वहाँ गए, तो जैसे ही वे लोग पहुँचे तुलसीदास जी तो सो रहे थे और कुटिया के दरवाजे पर दोनों ओर श्याम-गौर दोनों भैया पहरा दे रहे थे। बड़ा प्रकाश फैला था। सच्ची घटना है यह कल्पना नहीं है। बड़ा प्रकाश फैला था तो

चोर वहाँ जाए कैसे ? वहाँ तो जा नहीं सकते थे, पहुँच नहीं सकते थे, उस प्रकाश को देख करके सहन नहीं कर सकते थे ये कौन है ? यह कैसा प्रकाश है। तो वे तो लौट गए, दूर ही से लौट गए और उनके ध्यान में कुछ आया ही नहीं।

अब उस दर्शन का एक प्रभाव हुआ कि उनके भीतर से बुरी भावनाएँ मिट गईं होंगीं कि नहीं। सूर्य का उदय होगा तो प्रकाश से अन्धकार मिटेगा ही। तो वे चोर गलत उद्देश्य लेकर गए थे तब भी उस परम प्रकाशक प्रभु का प्रकाश जो उनके देखने में आ गया तो उससे ही उनका हृदय बदल गया। दूसरे दिन वे दोनों गोंसाई जी के पास आए, आम नागरिकों के वेश में आए और आकर के उनके चरणों में गिर गए कि महाराज हम लोगों को क्षमा करिए, बड़ी भूल हो गई बड़ी भूल हो गई। क्या हो गया भई ? क्या भूल हो गई ?

तो उन्होंने सब कथा सुना दी कि अमुक-अमुक पंडित ने हम लोगों को ऐसा कहा था और हम लोग चोरी करने आए, तो महाराज क्या बताएँ आपकी इस कुटिया के दरवाजे पर तो बड़े सुन्दर-सुन्दर श्याम-गौर दो बालक खड़े थे और इतना प्रकाश फैल रहा था, इतना प्रकाश फैल रहा था कि पंडित जी, गोस्वामी जी, कि हम लोगों से तो सहन ही नहीं हुआ और हम लोग भाग गए, तो आज से हम लोग कभी भी चोरी नहीं करेंगे। गोस्वामी जी हमको अपना शिष्य बनाइए। तो गोस्वामी जी शिष्य तो क्या बनाएँगे ? गोस्वामी जी को इस बात का हर्ष तो नहीं हुआ, बड़े दुखी हो गए। अरे, अरे-अरे मेरे सरकार को इन पोथियों के लिए कष्ट उठाना पड़ा, पहरा देना पड़ा। अब क्या करेंगे इसको रख के, अब क्या करेंगे इसको रखकर। इतने अधीर हो गए इतने व्याकुल हो गए कि उन्होंने उस समय बादशाह थे अकबर, उनके मंत्री थे राजा टोडरमल। उनसे गोस्वामी जी की मित्रता थी और वे बादशाह के मंत्री थे तो उनके पास

सुरक्षा का बहुत इंतजाम था। गोस्वामी जी ने एकदम अपनी प्रति लिपियों को लिखी हुई रामायण की प्रतिलिपियों को राजा टोडरमल को दे दिया। कह दिया मित्र को कि इनको सँभाल करके रखना। और कुटिया एक दम खाली कर दी।

कितना विरह उपजा, कितनी व्याकुलता हुई, उस भक्त हृदय को कितनी पीड़ा हुई, कि हाय-हाय यह मैंने क्या किया? इनके लिए सरकार को पहरा देना पड़ा, कष्ट उठाना पड़ा अत्यन्त व्याकुल हो गए। तो भक्त का जो हृदय होता है, वह अपने प्यारे को प्यार देने के लिए होता है। ऐसा नहीं कि मैं सो गई, तो तुम क्यों नहीं आए पहरा देने। सो नहीं है, यह भक्ति की बात नहीं है। तो मैं आपकी सेवा में यह निवेदन कर रही हूँ कि खास प्रकार की धारणाएँ बनाकर बैठ जाते हैं जो भाई-बहन कि मेरी भक्ति का यह फल होगा। तो वह अपनी बनाई हुई धारणा जो है वह भक्ति की वृद्धि में बहुत बाधा पहुँचाती है।

इसलिए धारणा बनाकर मत बैठो, उनके होकर रहना पसंद करो। फिर देखो उनकी क्या मौज होती है, बड़ा आनन्द होगा जब हम लोग अपनी तरफ से अपने को बिल्कुल उनकी प्रसन्नता पर छोड़ देंगे कि महाराज अब इस दीन-हीन, तुच्छ, नगण्य जीवन को आप जैसे चाहें वैसे अपनी विभूतियों से सम्पन्न करें। अपनी प्रसन्नता के लायक बनाएँ तो अपना संकल्प छोड़ दो, अपनी कल्पना छोड़ दो और महाराज मुझको समझाने के लिए मेरी भाषा का प्रयोग करते तो कहते देवकी जी, दिमाग में भगवान का कार्टून मत बनाना, कार्टून। अखबारों में आपने कार्टून देखा होगा न? व्यंग्य चित्र कार्टून का अर्थ होता है। देवकी जी, तुम दिमाग में भगवान का कार्टून मत बनाना। प्यारे बड़े रसिक हैं। प्यारे बड़े कौतुकी हैं, प्यारे बड़े कृपालु हैं, बड़े प्रेमी हैं तुम अपनी तरफ से केवल एक बार अपने को

छोड़ दो, फिर देखो कि इस मिट्टी से वे कितना सुन्दर खिलौना गढ़ लेंगे फिर उससे खुद को रिझाएँगे और तुमको भी रिझाएँगे।

ईश्वर-भक्ति का यह अर्थ है जो स्वामी जी महाराज के अनुभव से सिद्ध है और जो मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुरूप है। अब समय तो खत्म हो गया, कथा तो खत्म होती नहीं है। हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता। तो सरस कथा जीवन को पवित्र करे, इसी भावना से अब सब भाई-बहन थोड़ी देर के लिए बिल्कुल शान्त हो जाओ।

●

प्रवचन 16

स्वामी जी महाराज के साथ बातचीत.... सत्संग की बैठक में बातचीत चल रही है। स्वर्गाश्रम में वट वृक्ष के नीचे बातचीत हो रही थी तो प्रश्न उठा है उसमें, परमात्मा की याद आने की बात से। तो स्वामी जी महाराज यह सलाह दे रहे हैं कि भई, मरे हुए कुटुम्बी जनों की याद आती है और मौजूद परमात्मा को याद करना पड़ता है और उसमें भी सफलता नहीं मिलती है। ऐसा क्यों? तो ऐसा सोचो, तो सोचने से साफ विदित होता है कि जिनको हमने अपना माना, उनकी याद स्वभाव से आती है। इसलिए ईश्वर-विश्वासी साधक, जो उनकी स्मृति को जीवन बनाना चाहते हैं उनकी याद में ही रहना जिनको पसंद है, उनको क्या करना चाहिए? तो उनको यह ही करना चाहिए कि परमात्मा को अपना मानो, पसंद करो। आधुनिक मनोवैज्ञानिक भाषा में बातचीत होती है तो यह कहा जाता है कि जहाँ-जहाँ हमारा interest है, अभिरुचि है वहीं-वहीं मन जाकर ठहराता है। इसको तो आपने स्वयं अनुभव किया होगा।

जो-जो बातें अपने लोगों को रुचिकर लगती हैं, रुचिकर बातों में जा करके मन ठहरता है कुछ समय के लिए और जिसमें आपकी रुचि नहीं है, उसमें मन नहीं जाता। तो जो पसंद आए, जो रुचिकर लगे, जहाँ हमारा interest हो, उसी में जाकर के मन ठहर जाएगा, टिक जाएगा। तो स्वामी जी महाराज कह रहे हैं कि परमात्मा को पसंद करना, उनको अपना मानना यह तो हमारा आपका अपना पुरुषार्थ है, स्वधर्म है। और मेरी इस पसंदगी से उनकी याद स्वभाव से आने लग जाएगी, यह उस पुरुषार्थ का, उस स्वधर्म के पालन का फल है। तो उनको हम पसंद करे, यह मेरा स्वधर्म है।

उनकी सत्ता को स्वीकार करके उनसे आत्मीय सम्बन्ध मानें, यह हमारा स्वधर्म है और मेरी इस मान्यता और पसंदगी की मान्यता से उनकी

याद आने लग जाए, यह स्वधर्म पालन का फल है। ऐसा वे बता रहे हैं। तो यह बात सही है। आपने देखा होगा, मैंने बहुत अच्छी तरह से इसका अनुभव किया है कि सचमुच जो अपना नहीं है और अपने में नहीं है सदैव और सर्वत्र नहीं है, सब काल सब स्थान में ऐसा जो नहीं है, उसकी याद आने पर मनुष्य के जीवन में अभाव और नीरसता उपजती है। जो प्राप्त नहीं है, मौजूद नहीं है, अपने में नहीं है, उसकी याद अगर आएगी तो अपने में अभाव का अनुभव होगा। क्या करें, वह कब मिलेगा, कहाँ है कैसा है जो अपना नहीं है, उसकी याद का यह फल होता है। और परमात्मा जो सभी का अपना है और सभी में नित्य निरन्तर विद्यमान है, उसे जब आदमी पसंद कर लेता है और उसकी याद जब आती है तो बड़ा चमत्कार होता है ईश्वर-विश्वासी के व्यक्तित्व में।

यह तो मनोविज्ञान की भाषा है, मैं व्यक्तित्व बोल रही हूँ और दूसरी भाषा बोलूँ तो कहेंगे उसका बड़ा चमत्कार पूर्ण प्रभाव होता है हमारे आपके अहं में। क्या होता है ? कि जो नित्य विद्यमान है, उसको जब पसंद किया जाता है, उसकी पसंदगी से, आत्मीयता के सम्बन्ध से जब उसकी स्मृति जाग्रत होती है तो जो नित्य विद्यमान है उसकी याद आने मात्र से उसकी उपस्थिति से जीवन भरने लगता है । तो एक तो है अप्राप्त और उसकी याद आई तो अपने में सूनापन आ गया और एक है नित्य विद्यमान, भीतर-बाहर सब तरफ हर तरह से भरपूर, तो उसकी याद आ गई तो उसकी याद आने मात्र से जीवन भरने लगता है, अभाव मिटने लगता है, सरसता बढ़ने लगती है। और वह रस जो कि जीवन-रस है, अविनाशी रस है, हमारी अपनी आवश्यकता के अनुरूप है। इसलिए उस रस की वृद्धि से शेष सबकी विस्मृति हो जाती है। महाराज जी ने एक जगह पर एक वाक्य लिखा है। एक दिन हम विवेचन कर रहे थे कि संसार के साथ रहने पर भगवान की याद आती है। और भगवान के साथ रहने पर संसार को भूल

जाता है आदमी। तो ऐसा तो उसका एक सहज प्रभाव बताया। बहुत सच्ची बात है और अनुभव करने के योग्य बात है। जिन अनुभवी जनों ने अनुभव किया, उन्होंने अपना इसी प्रकार का अनुभव बताया है। तो बीच में एक भाई ने प्रश्न कर दिया कि परमात्मा को पसंद करने में और उनको अपना मानने में और उनकी स्मृति में रहने में जो हमारे पुराने संस्कार हैं, वे बाधा डालते हैं। तो इस पर प्रश्न-उत्तर हो रहा है। महाराज जी ने कहा, कि यह बात नहीं है, ऐसा नहीं है, संस्कार बाधा नहीं डाल सकते हैं।

पुराने किए-कराए का जो निशान बन जाता है स्नायु में stamp बन जाते हैं। भोगे हुए सुखों का प्रभाव, अतृप्त वासनाओं का प्रभाव, नए पुराने जो वहाँ पर अंकित हैं तो उनका revival होता रहता है, उनकी पुनरावृति होती रहती है, बार-बार वे सामने आते रहते हैं, इस प्रलोभन से कि पुन: उसी सुख को दोहराया जाए। तो स्वामी जी महाराज ने कहा, कि अगर कोई पुराना संस्कार, भोगे हुए सुख के प्रभाव से जो राग अंकित हो गया है वह अगर तुम्हारे सामने आ भी जाए तो अगर तुम उसका समर्थन नहीं करोगे तो जबरदस्ती तुम्हारे सिर पर नहीं चढ़ेगा। और उदाहरण के लिए बता दिया कि जैसे चाय पीने की आदत है। बहुत मामूली उदाहरण लेना चाहिए। चाय पीने की आदत है और तुमको अभी नहीं पीना है तो अगर कोई एक प्याला लाकर के तुम्हारे सामने रख दे तो पीने का जो नुकसान है, वह चाय को देखने से तो नहीं हो जाएगा? जी! नहीं हो जाएगा। तो जैसे बाहर दिख रहा था वैसे अगर भीतर दिख गया तो घबराते क्यों हो? बाहर वाला दृश्य ही न भीतर अंकित होगा। अभी देख रहे हैं तो अथवा पहले का देखा हुआ था कभी का। किसी भी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से किसी प्रकार का सुख भोगा हुआ है, अथवा भोगने की इच्छा रखते हैं तो उसी का चित्र बनता है, बाहर देखो अथवा भीतर देखो। तो महाराज कह रहे हैं कि अगर कोई चित्र तुम्हारे मस्तिष्क में आ गया प्रकट

सामने चेतन स्तर पर और तुम्हें दिख गया तो उसका समर्थन नहीं करोगे और उस प्रवृत्ति में पुनः अपने को नहीं लगाओगे, तो फिर वह तुम्हारा कोई नुकसान कर सकता है ? नुकसान तो नहीं करेगा। तो दीखेगा और उसे इन्कार कर दो, उसे पकड़ों मत, उसे रखो मत सँभाल करके तो बीच-बीच में भगवत्-भजन के बीच में, याद के बीच में अगर ऐसी कोई बात होती है, तो उससे साधक-समाज को घबराना नहीं चाहिए।

यह कह रहे हैं। और तीन वाक्य अभी महाराज जी ने बताए। समर्थन नहीं करोगे, हाँ नहीं भरोगे यह कहा और लड़ोगे नहीं उससे, यह कहा। तो उससे लड़ो मत और उसका समर्थन मत करो, हाँ भी मत करो और उससे संघर्ष भी मत करो, तो वह अपने आप से नाश हो जाएगा। ऐसा उन्होंने बताया और आगे उसी में प्रश्न करने वाले प्रश्न करते जा रहे हैं, स्वामी जी महाराज उत्तर देते जा रहे हैं। जो खास बात है, वह मैंने आपकी सेवा में निवेदन कर दिया । यह ही वे कह रहे हैं कि बीच-बीच में अगर पुरानी बातें याद आती हैं तो उनके आने से कोई नुकसान नहीं होता है। अगर उनको आने से रोकना चाहोगे तब नुकसान होगा। अगर उनके उठने पर उनका समर्थन करोगे फिर उस प्रवृत्ति में सम्मिलित होकर भोग-जनित सुख लेना पसंद करोगे, तब नुकसान होगा और हाँ भी मत करो और उनसे लड़ो भी मत, संघर्ष भी मत करो, तब कोई नुकसान नहीं हो सकता है और उनके डर से डरना भी नहीं चाहिए।

अब जब उन प्रवृत्तियों को अपने को दोहराना ही नहीं है तो जो उनका memory stamp पड़ा हुआ है स्नायु मण्डल में, वह अपने आप से आ भी जाएगा चेतन स्तर पर, और अपने आप से खत्म भी हो जाएगा। आगे फिर उसी में कह रहे हैं कि कभी-कभी साधक-जन से भूल होती है। क्या भूल होती है, कि पुरानी जो मेरी पसंदगी थी सुख-भोग की, उस पसंदगी के कारण से अनेक प्रकार के राग अंकित हो गए। और जब

शान्ति-काल में वे उठ-उठ कर मस्तिष्क में आते हैं और मन में हलचल मालूम होती है। तरह-तरह के विचारों के चित्र सम्मुख आते हैं, तब क्या करता है आदमी? अपने आप से आने वाले उन चिन्तनों को, करने वाले चिन्तन से दबा करके मिटा करके उसको खत्म करना चाहता है। तो व्यर्थ चिंतन उठता है मन में तो कोई-कोई साधक उसको सार्थक चिंतन से दबा देने की चेष्टा करते हैं। तो संसार की याद आ रही है, तो जल्दी-जल्दी भगवान का नाम ले करके संसार की याद को दबा दो। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य के विरुद्ध बात है। यह महाराज जी ने कहा कि होने वाली क्रिया को किसी करने वाली क्रिया से मिटाना चाहते हो, तो यह सम्भव नहीं है। बिना चाहे, बिना किए अपने आप व्यर्थ चिंतन उपज रहा है, तो अपने आप जो उपज रहा है उसको करने वाले चिंतन से तुम दबा सकते हो, थोड़ी सी देर के लिए, अल्पकाल के लिए, लेकिन मिटा नहीं सकते हैं।

तो होना क्या चाहिए? तो होना तो चाहिए था उल्टा। कौन-सी बात होनी चाहिए थी? कि सत्य की स्वीकृति के आधार पर, स्वधर्म के पालन के आधार पर, प्रभु की पसंदगी और उनके प्रेम की अभिलाषा के आधार पर, उनके माने हुए आत्मीय सम्बन्ध के आधार पर, उनका चिंतन, उनका ध्यान, उनकी याद स्वत: आनी चहिए थी। और जैसा कि मैंने पहले निवेदन किया आपको कि उनका ध्यान, उनका चिंतन, उनकी याद आने मात्र से उसमें इतनी सजीवता और इतनी सरसता होती है कि उस रस के प्रभाव से पहले से सब जमे हुए राग और विचार खत्म हो जाते हैं।

तो होना चाहिए था स्वभाव से यह कि हमने सत्संग किया होता, सत्य को स्वीकार किया होता, स्वधर्म का पालन किया होता तो आज जिनकी याद करने पर भी याद नहीं आती है, उनकी स्मृति स्वत: जाग्रत हो गई होती। स्वभाव से यह होना चाहिए था। लेकिन भूल के परिणाम से क्या हो गया? कि मैंने भूतकाल में वस्तुओं को महत्त्व दिया, व्यक्तियों

को महत्त्व दिया और दृश्य के संयोग के सुख को भोगना पसंद किया, उनके प्रभाव से अनेक राग अंकित हो गए तो उनका उपजना, उनका चेतन स्तर पर आना, उसके कारण से मस्तिष्क में हलचल मचना, यह मालूम होता है कि स्वभाविक हो गया है। है यह भूल का परिणाम। तो क्या करना चाहिए? कि भूतकाल में जो हो गया, उसको पकड़ कर बैठे मत रहो। भूतकाल कैसे भी बीता हो अब वर्तमान में आगे से किसी प्रकार के सुख-भोग की प्रवृत्ति में अपने को शामिल नहीं होना है। तो क्या होगा? फिर नया कोई राग उत्पन्न नहीं होगा।

दूसरी बात क्या होनी चाहिए? कि जो सदा-सदा से अपना है, उसके अपने-पन को स्वीकार करना चाहिए। और पसंदगी की बात ज्यादा जोरदार बताई महाराज जी ने फिर क्या होता है? कि ईश्वर-विश्वास के साधकों में एक संदेह रहता है कि परमात्मा दिखाई तो देते नहीं है, कि समझ में आता नहीं है, जान-पहचान कभी हुई नहीं, प्रमाण कुछ मिलता नहीं तो उनको पसंद कैसे करें। तो पसंदगी की बात और उनके आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करने की बात और उनके होकर रहने की बात, उनके प्रेम को ही जीवन मानने की बात—यह है तो बहुत आवश्यक, इसके बिना विश्वास-पंथ के साधक के जीवन में ईश्वर-विश्वास सजीव नहीं होता है। इसकी बहुत जरूरत है लेकिन कहने लग जाता है आदमी कि कैसे करें? तो एक दिन की चर्चा है, स्वामी जी महाराज का कुछ लिखा हुआ वाक्य मैं तुम लोगों को सुना रही थी जिसमें उन्होंने लिखा है कि परमात्मा है और उससे मेरा नित्य सम्बन्ध है। इन वाक्यों को सुनने के लिए कितनी तैयारी चाहिए, कितनी भूमिका चाहिए अपने जीवन में और तब फिर उन्होंने बताया कि इसकी भूमिका में क्या होना चाहिए, कि सारा संसार अपने को दु:ख रूप दिखाई देना चाहिए। अलग-अलग व्यक्ति होते हैं, वे केवल व्यक्तिगत दु:ख तक ही सीमा नहीं रखते हैं। तो जहाँ भी कहीं दु:ख दिखाई

देता हो तो सब दुःख को सामूहिक रूप से ग्रहण करके और अर्थ निकालते हैं।

तो जहाँ भी कहीं निर्माण, परिवर्तन, विनाश का क्रम चल रहा है, काल की अग्नि में सब जल रहा है, ऐसा जिन सचेत महापुरुषों ने अनुभव किया, जिनको सारा संसार दुःख रूप दिखाई दिया, ऐसी जिनकी तैयारी है, उनको यह सुनने का अधिकार है कि केवल उसी की सत्ता है और केवल उसी से ही मेरा नित्य सम्बन्ध है। तो सुनते तो हम सभी है, आरम्भ तो हम सभी करते हैं लेकिन एक सुनना ऐसा होता है कि वह अविनाशी परमात्मा को बिना देखे, बिना जाने भी स्वीकार कर लेता है और जो अपनी असमर्थता से अत्यन्त पीड़ित हो गया है, वह भी सुने हुए सर्वसमर्थ परमात्मा को अपना कह कर, अपना हितैषी कह कर, अपना सम्बन्धी कह कर, अपना मित्र-साथी कह कर स्वीकार कर लेता है।

तो कुछ पृष्ठ भूमि में विशेषता होनी चाहिए, कि जिस पर यह स्वीकृति सजीव हो जाती है और इसकी सजीवता में बड़ी विलक्षणता है। क्या विलक्षणता है? कि मैं जो इस क्षण में यहाँ पर बैठकर आप सभी भाई- बहनों से बातें कर रही हूँ, तो मैं कह रहीं हूँ आप सुन रहे हैं। हम सब लोग यहाँ बैठे हुए है। कहने-सुनने की क्रियाएँ चल रही हैं लेकिन इसी समय में, इसी काल में, इसी स्थान पर अन्तर्यामी रूप से भीतर-बाहर रह कर परमात्मा विद्यमान तो है लेकिन नित्य विद्यमान की विद्यमानता का अनुभव अपने लोगों को नहीं हो रहा है। तो बहुत प्रकार की चर्चा चल रही है। स्वामी जी महाराज ने किसी सत्संग का प्रसंग एक बार सुनाया। एक बड़े महात्मा परमात्मा के बारे में बहुत बढ़िया-बढ़िया बातें बता रहे थे। टेप में है, उस दिन हम लोगों ने सुना था। बता रहे थे कि परमात्मा ऐसे हैं, परमात्मा ऐसे हैं, और ऐसे सब बातें हो रही थी तो स्वामी जी महाराज कह रहे थे, कि अरे भई जो नित्य विद्यमान है, उसका वर्णन

करोगे कि उससे मिलोगे । मिलना चाहिए न ? जो नित्य विद्यमान है, उसका चिंतन करोगे कि उससे प्यार करोगे । चिंतन तो उसका करो, जो अप्राप्त है । भई कब मिलेगा, कहाँ मिलेगा, कैसे मिलेगा, यह करना है, वह करना है, वह करना है । तो उसका चिंतन क्या करोगे भाई ? जो नित्य विद्यमान है उसको तो प्यार करना है, उसका चिंतन क्या करना है ।

और जो सर्वकाल में सर्वत्र विद्यमान है तो उसको ढूँढ़ने जाओगे ? ढूँढ़ने जाने की बात नहीं है । तो उसका वर्णन करोगे, कि उससे मिलोगे । कोई अपना परम मित्र बहुत दिनों के बाद कभी सामने आ जाए, तो आ जाएगा तो प्रेम पूर्वक उससे मिलिएगा कि उसके बारे में सोचिएगा कि वह ऐसा है, ऐसा है, कैसा है, कैसा है तो वर्णन तो तब तक हो सकता है कि जब तक मिलने वाला न हो । सोचते रहें ऐसा है, ऐसा है, कैसा है ? तो बड़ी आवश्यक बात यह है कि उनकी सत्ता की स्वीकृति । और वह भी अधूरा ही रह जाता है केवल सत्ता की स्वीकृति मात्र से । यह बात तो मैं अपने द्वारा, अपने उदाहरण से अच्छी तरह से जानती हूँ, आप भी इसको अनुभव कर सकेंगे कि केवल सत्ता स्वीकृति मात्र से काम नहीं बनता है । वह है और भले ही उसकी महिमा जानो अथवा न जानो है और अपना है । सत्ता की भी स्वीकृति होगी और नित्य सम्बन्ध की भी स्वीकृति होगी । तो इस स्वीकृति का सजीव परिणाम अपने लोगों के जीवन पर होना चाहिए ।

और वह जब होगा, तब चिंतन करना ही नहीं पड़ेगा, अपने आप उसकी याद आएगी । और जो सत्य है वह रस रूप भी है और हमारे मस्तिष्क की जो विकृत दशा है, यह विकृत दशा मैं कहती हूँ, क्यों कहती हूँ ? कि जो वस्तुएँ कभी भी किसी को सन्तुष्ट कर नहीं सकतीं उन वस्तुओं को महत्त्व देना और उनके बारे में सोचना यह तो विकृति ही कही जाएगी और क्या कहा जाएगा । जिसकी याद मात्र में सारी सृष्टि डूब जाती है,

वह तो दूर मालूम होता है, कठिन मालूम होता है और जिसको याद कर-कर के, जिसका चिंतन कर-कर के अनेक जन्म बरबाद कर दिए फिर भी उसी के पीछे पड़े रहे तो यह normality तो नहीं है, यह विकृति मालूम होती है। तो इस तरह की बातें जो है जीवन में वे अपनी भूल से उत्पन्न हो गई हैं।

यह भूल का ही परिणाम है, स्वाभाविकता नहीं है। स्वाभाविकता ऐसी नहीं होती कि जो आपको अप्रिय लगे, जो आपको पराधीन बना दे, जो आपको असमर्थ बना दे, जो जीवन में नीरसता को भर दे और उसी के परिणामस्वरूप यह चित्त की और मन की चंचलता, अस्वस्थता, दुर्बलता सब पैदा होती रहती है। तो संत ने यह परामर्श दिया कि अपनी भूल हम लोग मिटाएँ। भूल क्या है? जिस संसार की कोई स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं है, जो तुम्हारे पास तक पहुँच ही नहीं सकता, उसको महत्त्व मत दो। आता है सामने, दिखता है तो जब तक दिखाई देता है, तब तक उसकी सेवा करो, उसका भला मनाओ। दिखता है, यह भी एक अस्वाभाविक दशा ही है। क्यों? क्योंकि मुझमें राग है, तब तक दिख रहा है संसार। जब तक मुझ में संकल्प है, तब तक दिख रहा है। तो यह साधन-काल की बात है कि दिखाई दे तो उसे अपने लिए न मानना, अपना न मानना और फिर भी उसके प्रति सद्भाव रखना और सेवा करना। तो इससे तो पुराना जमा हुआ राग मिटेगा और जो सदा-सदा से है, उसको पसंद करना, उसको अपना मानना तो उसकी स्मृति जाग्रत होगी। तो राग की निवृत्ति से शान्ति मिल जाती है और भगवत्-स्मृति की जागृति से रस की अभिव्यक्ति हो जाती है फिर साधक को कुछ भी करना शेष नहीं रहता है। ऐसा यह एक विवेचन है।

भूल हो जाती है हम लोगों से। एक जगह पर महाराज जी ने बड़ा सुन्दर वाक्य लिखा है, जिसमें पढ़ रही थी मैं। ऐसे ही प्रवचन के बीच

में से मैंने Note कर लिया होगा हमारे पास रखा हुआ है। तो कई वाक्य थे, अपने लोगों के लिए बहुत बढ़िया हैं। याद रखने से काफी सहायता मिलेगी। एक हिस्सा है, जो पूर्ण है, उसी में प्रेम प्रवाहित होता है। जो अचाह है, जिसमें भोग और मोक्ष की चाह नहीं है उसी में प्रेम ठहरता है। प्रेमियों में जो प्रेम भासता है वह पूर्ण के प्रेम की छाया है। मनुष्य अचाह होने के कारण अपूर्ण होते हुए भी पूर्ण के प्रेम का पात्र बन जाता है। तभी उस पर पूर्ण के प्रेम की छाया पड़ती है।

प्रेमी अर्थात् जिसके जीवन में अपना सुख न हो, जहाँ अपने सुख की गंध नहीं, वहाँ दु:ख कहाँ से सताएगा। जो अचाह है, जिसमें भोग और मोक्ष की चाह नहीं है, उसी में प्रेम ठहरता है। और आगे बताया कि प्रेमियों की भाषा में चाहने वाले को चाहना पशुता है। प्रेमियों की भाषा में चाहने वाले को चाहना पशुता है। अब जिस समय यह वाक्य मेरी दृष्टि में आया तो एकदम ऐसा लगा कि अटकने वाले सब इसी point पर अटके हुए हैं। चाहने वाले को चाहना, जिसमें अपूर्णता है जिसमें कामनाएँ हैं जो खुद ही कुछ चाहता है उसको अगर मैं पसंद करूँ तो यह पशुता है। यह उनकी भाषा है।, भई उनको कौन मना करे वे तो कह ही सकते हैं। तो अब ऐसा सोच करके देखिए कि विश्वास को हम लोगों ने पसंद किया। जो विश्वास सदा के लिए निभ नहीं सकता, उसकी जगह पर ईश्वर-विश्वास को हम लोगों ने पसंद किया। और चाहते हैं कि मन की चंचलता और चित्त की विकृतियाँ सब मिट जाएँ और वहाँ पर केवल ईश्वर का ध्यान रह जाए, उन्हीं की याद रह जाए, उन्हीं के प्रति प्रियता रह जाए तो महाराज जी सलाह देते हैं कि अगर ऐसा तुम पसंद करते हो तो पुरूषार्थ करो, स्वधर्म का पालन करो। और उस रूप में क्या करना है? कि अरे भई और कुछ पसंद करने के लायक नहीं है, और किसी से जीवन की पूर्ति नहीं होती है और बिना किसी आधार के अपने से रहा नहीं जाता है तो संत जनों की

वाणी सुनकर गुरु के वाक्य सुनकर, ग्रन्थ के वाक्य पढ़कर उस बिना देखे, बिना जाने अनन्त परमात्मा को अपने जीवन का आधार बनाना पसंद कर लो।

तो यह बिल्कुल सच्ची बात है, कि अहं रूपी अणु में अपने को परिवर्तित करके वस्तुओं की आसक्ति की जगह पर भगवत्-अनुराग में परिवर्तित होने की क्षमता उसमें है और वह क्षमता काम करती ही रहती है। आरम्भ कहाँ से होता है? उस जीवन की पसंदगी से। सजीवता कैसे आती है उसके निकट जो बातें है उसको छोड़ देने से। बस इतनी-सी बात है। अब जिसको जैसे सूझे, जहाँ पसंद आए, जैसे fit बैठे, वैसे करो भाई। जोर-जबरदस्ती करने से पुराने व्यर्थ-चिंतन दब जाएँगे और ईश्वर की स्मृति जाग्रत हो जाएगी?

यह जोर-जबरदस्ती की बात नहीं है, यह बिल्कुल स्वभाविकता की बात है। और बड़ा अच्छा लगता है, मुझे बहुत आशा रहती है जीवन में, आप सभी भाई-बहनों के लिए बहुत उपयोगी बात है कि आप सिद्ध महापुरुष कब बनेंगे यह तो भविष्य बताएगा अपनी-अपनी आवश्यकता की तीव्रता बढ़ाएँ लेकिन सच्ची बात यह है कि ईश्वर-तत्त्व के समान और कुछ ठोस बात मनुष्य के जीवन में हो नहीं सकती है।

उनमें विश्वास करना और उनकी आत्मीयता को स्वीकार करना, इसके समान और कोई साधना बन नहीं सकती है, कुछ नहीं हो सकता। किस आधार पर मैं कहती हूँ? कि सम्पूर्ण अहं गल करके प्रेम के धातु में परिवर्तित हो जाए, उसके पहले साधन के पथ पर कदम रखने मात्र से, इस स्वीकृति और विश्वास को स्वीकार करने मात्र से, अपने ही भीतर में ऐसा अद्भुत परिवर्तन आरम्भ हो जाता है कि भगवान अपना विविध रूप धारण करके आपकी आँखों के सामने खड़े हो जाएँगे। कब खड़े हो जाएँगे, किस रूप में आएँगे, यह तो वे जाने, हमको नहीं मालूम है। लेकिन

जो साधक इस विश्वास और आत्मीयता को धारण करेगा जीवन में, तत्काल ही एक प्रतिक्रिया तो यह होती है, कि उसका अनाथपन मिट जाता है। फिर उसे कभी किसी काल में ऐसा भासित नहीं होता कि मैं अकेला हूँ, असहाय हूँ, यह हो जाता है अपने आप। आदमी की बहादुरी नहीं है, यह उनकी उपस्थिति का प्रभाव है। आप कहेंगे कि पहले क्यों नहीं था? तो पहले इसलिए नहीं था, कि आपने माना नहीं था। तो न मानो तो अत्यन्त रहस्यमय, ऐसे छिपे हुए कि बुद्धि लगा-लगा कर थक जाओ कहीं कुछ पता ही नहीं चलेगा। बड़ा विचित्र खेल है मनुष्य के जीवन का। बड़ी सुन्दर रचना है बड़ी अच्छी planning है, योजना बड़ी सुन्दर है। क्या है? कि अगर आप इस बात को स्वीकार करने लग जाएँ तो तत्काल परिवर्तन आरम्भ हो जाएगा। कैसे हो गया? कि जिसको आपने स्वीकार किया, वह नित्य विद्यमान है, पहले ही से है। जो है, सत्य है, समर्थ है, सर्वज्ञ है और प्रेमस्वरूप है। अब ये सब बातें अपने को चाहिए कि नहीं चाहिए। दुनिया के सुख-दुःख की लहरों में जो भीग रहा है, डूब रहा है, घबरा रहा है उसको अगर ऐसा मालूम हो जाए, कि मेरा कोई समर्थ नाथ है, जो नित्य विद्यमान है, अभी है, इसी समय है तो उसे धीरज मिलेगा कि नहीं? मिलेगा। वह मेरा अपना है उससे मेरा नित्य सम्बन्ध है, तो अनाथपन मिटेगा कि नहीं। और उसमें 2-4 दिन का समय लगेगा कि जैसे ही स्वीकार करेगा वैसे ही तत्काल होता है। तो बहुत छोटी-छोटी बातें हैं, जिन पर कि ध्यान नहीं जाता। लेकिन मुझे तो इन बातों पर ध्यान देने की जरूरत पड़ती थी। क्यों पड़ती थी? कि पहले से परमात्मा को मान कर चलने की मेरी आदत नहीं थी। इसलिए हमारे भीतर इस तरह की कोई धारणा ही नहीं थी कि भगवत्-भक्ति का क्या अर्थ होता है? दर्शन का क्या अर्थ होता है? मिलना कैसा होता है? उनका स्वरूप कैसा होता है? इसके सम्बन्ध में हमने कुछ कभी सोचा ही नहीं था। और

महाराज जी ने मना ही कर दिया, जैसे मैं आपको सुना रही थी, देवकी जी, परमात्मा का कार्टून मत बनाना। तुम्हारा बनाया हुआ चित्र जो होगा, वह तुमको जीवन नहीं दे सकेगा।

यह उस परम प्रेमास्पद, उस परम कौतुकी पर छोड़ दो वे किस रूप में पसंद करेंगे, वे कैसे तुमको सँभालेंगे उनकी मर्जी पर छोड़ दो। तुम कोई रूप मत बनाना तो, हम सावधान हो गए। हमने कहा अच्छी बात महाराज जी, हम नहीं बनाएँगे। तो उस आधार पर मैं कहती हूँ कि कोई रूप विशेष को देखने की बात तो मेरे भीतर थी नहीं। और कल्पना करूँ और चिंतन करूँ और धारणा करूँ ये सब बातें मुझको स्वभाव से भी पसंद नहीं थी और महाराज जी ने यह सब सिखाया भी नहीं। इसलिए मैं कह रही हूँ कि आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति, सत्ता की स्वीकृति, महिमा की स्वीकृति, उनको अपने जीवन के आधार के रूप में स्वीकार करना है। ये सारी बातें जो हैं, वे तत्काल ही अहं रूपी अणु में परिवर्तन आरम्भ कर देती हैं और घबराए हुए आदमी को धीरज मिल जाता है, नीरसता से पीड़ित व्यक्ति को स्वत: ही भीतर से भरा-भरा सा हृदय लगने लगता है। अपने को असमर्थ, अनाथ, असहाय समझने वाले को भीतर से ही यह बात ऐसी भर देती है कि किसी भी क्षण में इस बात की विस्मृति नहीं होती कि मेरे नाथ हैं और वे समर्थ हैं। तो जिस समर्थ नाथ का संरक्षण मेरे साथ है, उसकी विस्मृति कभी नहीं होती। तो आप क्या सोचते हैं यह सब अपनी बहादुरी है कि उनकी उपस्थिति का परिणाम है? क्योंकि वह है यह मानते ही वह सब लगने लगता है अपने को।

करने से नहीं होता। जबरदस्ती करो तो, नहीं बनेगा। लेकिन वह भीतर से ही ऐसे प्रकाशित होने लग जाता है, धीरज आने लग जाता है, रस बढ़ने लग जाता है, विश्वास बढ़ने लग जाता है। और कैसे-कैसे करके प्रत्येक साधक को परमात्मा पूरी तरह से आश्वास्त कर देते हैं कि

तुम्हारे गुरु ने जो कहा था, ठीक बात है। देखो मैं तुम्हारे पास हूँ। बहुत बढ़िया-बढ़िया ढंग से इस बात को वे साधक को दिखा देते हैं, समझा देते हैं और पुराने रागों की निवृत्ति के काल में थोड़ा-थोड़ा ऊपर-नीचे, ऊपर-नीचे होता रहता है। कभी व्यर्थ चिंतन और कभी शान्ति और कभी कुछ सभी तरह की बातें होती रहती है लेकिन जो लोग करने के आधार पर करते हैं तो उनको तो घबराहट हो जाती है कि अब क्या करें। अब तो फिर विकार आ गया, अब तो फिर संसार का चिंतन आ गया। और जो लोग उनके समर्पित होने के आधार पर चलते हैं, उनको चिंता नहीं होती है।

अब आ रहा है तो आ रहा है, जा रहा है तो जा रहा है। अब मेरी जिम्मेदारी है नहीं, तो मैं ऐसा कहती, स्वामी जी महाराज ने सिखाया था मुझको, तो मैं ऐसा सोचती कि हे महाराज आपने दिया था बहुत बढ़िया-बढ़िया सब कुछ शुद्ध रूप में अच्छा-सा दिया था, मैंने अपनी भूल से सब बिगाड़ दिया। मन, चित्त और इन्द्रियाँ और बुद्धि ये सब तो भौतिक शक्तियाँ है, भौतिक तत्त्व हैं ये क्रियाएँ है सूक्ष्म-सूक्ष्म। तो मिलती है सबको शुद्ध रूप में। उनके पास थोड़े ही अशुद्ध है। वे तो सब अच्छा ही अच्छा देते हैं, अपनी भूल से हमने इसको विकृत कर लिया। तो मेरी भूल से जो विकृति आ गई तो उसको अपने आप तो हम मिटा ही नहीं पाते और जिसने सर्व समर्थ ही शरण ली और उसकी कृपा-शक्ति के भरोसे अपने को छोड़ दिया तो उसको निश्चिंतता आ जाती है। महाराज जी कभी-कभी मुझे कहते कि देखकर डरती हो काहे के लिए, अपना करके स्वीकार करती हो काहे के लिए, उन्हीं को कह के देख लो महाराज, तुम्हारी ही वस्तु है। देख लो कैसा है, अब तुम जानो, तुम सँभालो मेरा क्या है। तो एक बार समर्पण के बाद पुनः-पुनः मन की, बुद्धि की, चित्त की, इन्द्रियों की विकृति देख करके चिन्तित होना, दुखी होना, भार ढोना, सँभालने की चेष्टा करना बिल्कुल अपनी विकास-बाधा के समान है। खूब अच्छी तरह से इस चीज

को भर दिया। कभी-कभी मैं परेशान होऊँ महाराज, अभी तक ऐसा नहीं हुआ, अभी तक ऐसा नहीं हुआ, तो शान्त कर देते, पीठ पर हाथ फेर के, सिर पर हाथ फेरके बस-बस-बस चुप रहो शान्त रहो और फिर कहते देवकी जी, यह दोनों तरफ प्रयास चलेगा? यह कैसे होगा? तुमने उनसे भी कहा है सँभालने के लिए और फिर अपनी ओर से लड़ती रहोगी। दोनों तरफ से रस्साकस्सी चलेगी? तुम अपना बन्द कर दो, तुम छोड़ दो। वे बड़े शक्तिशाली है।

वे हर प्रकार से समर्थ है। वे सब कुछ जानते हैं। वे सब कुछ कर सकते हैं। ऐसे समर्थ स्वामी के हाथ में सौंप देने के बाद फिर तुम अपनी चेष्टा क्यों आरम्भ करती हो। यह दोनों तरफ नहीं चलेगा, तुम अपना बन्द करो। तो इतना आराम मिलता था एकदम तत्काल। स्वामी जी महाराज के मुख से बात निकली और बेचैनी जिसको होती है, उसके लिए दवाई बहुत ही गुणकारी हो जाती है। तो बेचैनी में, परेशानी में यह आवाज मेरे कान में पड़ती और सुनकार के मैं बिल्कुल शान्त हो जाती। पता नहीं उस क्षण के बाद फिर उस तरह की परेशानी कभी मैंने अनुभव नहीं की इसलिए मैं इस बात को जानती हूँ। आप सभी भाई-बहनों की सहायता के लिए मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि डरने की बात नहीं है। संदेह करने की बात नहीं है, उतावलेपन की बात नहीं है, वह सब नहीं है। बिल्कुल स्वाभाविक ढंग से, सहज भाव से सत्य की स्वीकृति से अहं में परिवर्तन होता है, सत्य की स्वीकृति से साधक के व्यक्तित्व में से साधन की अभिव्यक्ति होती है और साधन की अभिव्यक्ति से ही साध्य से अभिन्नता होती है।

प्रवचन 17

उपस्थित महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो।

हम सब लोग साधक हैं। साधक होने के नाते अपने साध्य से भी परिचित है। क्या चाहते हैं? तो जीवन को ऐसा देखना चाहते हैं, जिसमें मृत्यु का भय न हो, आनन्द और प्रेम का रस कभी घटे नहीं, ऐसा हम लोग चाहते हैं। पहली बात तो यह है कि वास्तविक जीवन कहते ही है उसको, कि जिसमें दु:ख न हो, भय न हो, मृत्यु न हो, अभाव न हो और सामर्थ्य, ज्ञान और प्रेम से भरपूर हो। उसी को जीवन कहते हैं। उसके विपरीत इस वर्तमान क्षण में अपना जो परिचय हम पा रहे हैं, यह जीवन का परिचय नहीं है, यह तो एक दशा का परिचय है, जो आगे चलकर बदल जाने वाली है। इस दशा का परिचय है। दशा क्या है? बहुत दु:खी हूँ यह दशा है, वास्तविकता नहीं है। दशा क्या है? मैं बहुत सुखी हूँ तो यह जीवन नहीं है, यह आगे चलकर बदल जाने वाला है। तो जिसमें परिवर्तन होता रहे, जो बनता-बिगड़ता रहे, उसको अवस्था कहते हैं, दशा कहते हैं, उसको जीवन नहीं कहते है। और सचमुच हमारे भीतर जिसकी माँग है, उसी को जीवन कहते हैं। तो अब अपनी-अपनी ओर देख लीजिए।

अपने भीतर क्या माँग है? तो अवश्य ही प्रत्येक भाई-बहन यह कहेंगे कि भई मुझे तो दु:ख-रहित जीवन चाहिए, भय-रहित जीवन चाहिए, सामर्थ्य, ज्ञान और प्रेम से सम्पन्न जीवन चाहिए। ऐसा आप बताएँगे क्योंकि यह मानव-मात्र की माँग होती है। स्वामी जी महाराज ने जीवन की जो खोज की, उस खोज के आधार पर उन्होंने हम लोगों को बताया कि भाई तुम्हारे भीतर वे सब तत्त्व विद्यमान हैं जिनकी तुम माँग अनुभव करते हो। सत्य भी विद्यमान है ज्ञान और प्रेम भी विद्यमान है। शान्ति और सामर्थ्य भी विद्यमान है। यह सब तुम्हारे भीतर है, जिसकी तुम माँग अनुभव करते हो।

तो अब प्रश्न क्या आएगा हम लोगों के सामने? कि हमारे ही भीतर वह सब कुछ है, जिसकी हमें जरूरत है, तो फिर हम अपने को उससे दूर क्यों अनुभव करते हैं? उससे वंचित क्यों अनुभव करते हैं? उसके बिना परेशान क्यों रहते हैं? उसके विपरीत हमारी गतियाँ क्यों होती हैं? यह प्रश्न बनेगा तो उत्तर क्या मिलेगा? कि मनुष्य के जीवन में एक होती है माँग और एक होती हैं इच्छा। ये दो भाग हैं उसके। तो माँग कहते हैं उसको, जो सत्य से मिला दे, स्वाधीन कर दे, जीवन को भरपूर कर दे। और इच्छा कहते हैं उसको जो संसार से जुटा दे, पराधीन कर दे, और जिसका अन्त अभाव तथा बेबसी में हो जाए।

अब बड़े दुःख की बात है, कि इन तथ्यों को अच्छी तरह से जान लेने के बाद भी, मैं अपने को देखकर बोल रही हूँ दूसरा कोई भाई-बहन श्रोता समाज में से ऐसा बैठा हो कि जिसकी यह दशा खत्म हो गई हो, वह बुरा न मानें। मैंने जो देखा है साधन-काल की अपनी दुर्दशा। उसमें क्या देखा है कि माँग और इच्छा के स्पष्ट अन्तर को जानते हुए भी अगर इच्छा-पूर्ति का कोई चांस दिखाई देता है, तो हम अपने को उससे बचा कर नहीं रखते हैं। परिस्थिति नहीं बने तो बात दूसरी है तब तो हम ज्ञानी बन के अपना काम चलाएँगे ही, होता है ऐसा। कोई संकल्प उठा और उसके पूरी होने का उम्मीद नहीं है तब तो हम ज्ञानी बन कर काम चलाते हैं, छोड़ो संकल्प को, संकल्प-पूर्ति मेरा जीवन नहीं है। संकल्प-पूर्ति से सत्य नहीं मिलता। मैंने खुद किया है यह सब, अन्दाजी बात मैं नहीं बोल रही हूँ। जिस किसी को लगाना हो, घटाना हो अपने पर घटा दो। और जिसको बचना है इससे बच के रहो।

लेकिन सच्ची बात है कि जब संकल्पों की पूर्ति का अवसर नहीं दिखाई देता है तो बड़ी चेतना रहती है। कुछ परवाह की बात नहीं है, मैं तो साधक हूँ, मेरा अमुक संकल्प पूरा नहीं हुआ, तो उस संकल्प का त्याग

ही अच्छा है। संकल्प-पूर्ति जीवन नहीं है। तो उस समय भीतर से एक बहुत बढ़िया बल दिखाई देता है और किए हुए, सुने हुए सत्संग का एक प्रकाश दिखाई देता है। लेकिन समय-समय पर मैंने ऐसा पाया कि जहाँ संकल्प-पूर्ति की अनुकूल परिस्थितियाँ दिखाई देती हों, वहाँ हम संकल्पों से बच के रहें, यह सावधानी कभी-कभी खत्म हो जाती है।

जब दिखाई देता है, कि कोई ऐसा सहायता करने के लिए खड़ा हो गया, जो कह रहा है कि आपको जो चाहिए बताइए। हम से कुछ काम ले लीजिए, हमारे से कोई मदद ले लीजिए, हमारी कोई सेवा स्वीकार कर लीजिए, तो अहम का पोषण भी हो गया, हमने थोड़े कहा था कि आप मेरी मदद कीजिए वे सज्जन तो खुद ही आए। तो अहम का भी पोषण हो गया कि मैंने कहा नहीं था। वे तो अपनी खुशी से आकर के मेरे सामने खड़े हुए और उन्होंने कहा कि कोई काम बताओ, कोई सेवा बताओ, तो मैंने बता दिया। तो अहम् का भी पोषण हो गया और संकल्प-पूर्ति का भी पोषण हो गया। कह दिया मैंने अच्छी बात आपको मेरा काम करने में हर्ष होता है, तो कर लाओ अमुक काम। तो संकल्प की पूर्ति भी हो गई, अहम् का पोषण भी हो गया और निःसंकल्पता की शान्ति कुछ काल के लिए खत्म हो गई। क्या खत्म हो गई? अब मैं और बताऊँ आपको कच्चा चिट्ठा खोलना ही है, तो डरने की क्या बात है?

अब क्या हो गया कि किसी आदमी ने मेरे संकल्प की पूर्ति में कुछ करने को कहा और मैंने हाँ कह दिया और वह करने के लिए चला गया। तो जब तक वह करके लौटेगा नहीं तब तक शान्ति और समाधि तो गई। अब थोड़ी-थोड़ी देर पर ध्यान आ रहा है। मेरी अमुक इच्छा की पूर्ति के लिए वह सज्जन गया है, अब देखो करके आता है कि नहीं, पूरा होता है कि नहीं? पूरा हो गया तो अच्छा। क्या हो गया? इस दुर्बलता को अपने लोगों को पकड़ के रखना चाहिए। पकड़ के रखना चाहिए

इसका क्या मतलब है ? कि इसका नाश करने के लिए सदैव सावधान रहना चाहिए। भाई प्रतिकूलता में झख मारकर या ज्ञान पूर्वक या प्रसन्नता पूर्वक अपने संकल्पों का त्याग सब को करना ही पड़ता है। प्रतिकूलता की घड़ी में छोड़ना ही पड़ता है। बिना छोड़े काम नहीं चलता। लेकिन संकल्पों की पूर्ति की अनुकूलता सामने आए और उस समय भी सावधानी पूर्वक मैं निःसंकल्प रह सकूँ, तो कदम आगे बढ़ सकता है।

योगवित होने में बाधा क्या है ? संकल्प-पूर्ति का सुख और संकल्प अपूर्ति का दुःख और कुछ बाधा नहीं है। योगवित होने में यह ही बाधा है। और तत्त्ववित होने में यह ही बाधा है और भगवत् भक्त होने में यही बाधा है। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है। अब अपने-अपने अध्ययन की बात है, अध्ययन करके देखिएगा आप। कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि बहुत ही शान्त और निश्चिंत होकर के बैठ गया है आदमी भगवत्-शरणागति लेकर के, अप्रयत्न होने के लिए, अहंकृति-शून्य होने के लिए, अच्छी बात है। उसी समय, उसी बीच में कहाँ तो आप जा रहे थे देहातीत जीवन की ओर, अप्रयत्न होना मतलब देहातीत जीवन में पहुँचना। सब प्रकार के प्रयत्नों से अपने को बचा लेना। स्थूल कर्म नहीं है, चिंतन नहीं है, किसी प्रकार की गतिशीलता नहीं है, यहाँ तक कि संकल्प-रहित होते ही अहम्-स्फूर्ति भी बन्द हो जाती है। अहम् में किसी प्रकार का स्फुरण भी नहीं हेता है। अब जब ऐसा हो जाता है एक क्षण के लिए भी कि अहम् में किसी प्रकार का स्फुरण न हो, तो उसी समय अपने ही में विद्यमान सत्य के स्पर्श का अनुभव होता है। यह तो आनन्दमयी माता जी के शब्द हैं सत्य के स्पर्श का अनुभव होता है और स्वामी जी महाराज की भाषा यह है कि सत्य के संग में होने का आनन्द आ जाता है। दोनों संतों के दो वाक्य मैंने अपने लिए याद करके रखे। जिस क्षण में आप थोड़ी देर के लिए सही अहम्-स्फूर्ति से शून्य हो जाएँ, कोई संकल्प नहीं

है, मुझे कुछ नहीं करना है, मुझे कुछ नहीं चाहिये तो संकल्प खत्म हो गया तो संकल्पों का स्फुरण भी खत्म हो गया। तो सारी गतियाँ सब शक्तियाँ जा करके अहम् में शान्त हो जाती हैं। अहम्-स्फूर्ति जिस समय बन्द हो गई, उसी समय सत्य के स्पर्श का अनुभव। तो स्पर्श के अनुभव से मैंने क्या अर्थ लगाया कि शान्ति-काल में जिन भाई-बहनों को अनुभव है, उनको मालूम है और जिनको अनुभव नहीं है, वे अनुभव ले सकते हैं। क्या होता है ? सत्य के स्पर्श का अर्थ क्या है ? कि भीतर से एक ऐसी आनन्ददायिनी लहर उठती है, कि जिसमें पहले तो रोम-रोम मालूम होगा कि मानो बहुत पुलकित हो रहा है और थोड़ी देर के बाद इस प्रकार का अनुभव करने वाला सम्पूर्णता से उस अनुभव से एक हो जाएगा। फिर पता नहीं चलेगा कि क्या हो रहा है। तो अपने ही भीतर से एक आनन्ददायिनी अनुभूति की स्फूर्ति होती है। एक भाव प्रधान व्यक्तित्व में प्रेम के भाव का उद्रेक होता है। रस से सारी क्रियाएँ शरीर की बिल्कुल शान्त और शिथिल हो जाती हैं और इतना अच्छा लगता है, इतना अच्छा लगता है कि उस क्षण की तुलना संसार के किसी भी ऊँचे से ऊँचे सुख-भोग की प्रवृत्ति से नहीं की जा सकती है। इतना ही इससे ज्यादा मुझे नहीं मालूम है। आनन्दमयी माता जी के साहित्य में लिखा है कि अहम् के स्फुरण बन्द होने से तत्काल ही सत्य के स्पर्श का अनुभव होता है।

सत्य का स्पर्श अनेक रूपों में हो सकता है। सामर्थ्य के रूप में हो सकता है, आनन्द के रूप में हो सकता है प्रेम के रूप में हो सकता है, चिर शान्ति के रूप में हो सकता है। अनेक रूपों में हो सकता है। और उसकी कोई परिभाषा नहीं बनायी जा सकती। कोई परिभाषा नहीं बनाई जा सकती। जो अनुभव करता है, वही करता है। और वह जब भाषा बना के कहने लगता है तो सचमुच वह क्या अनुभव करता है पूरी-पूरी बात

भाषा में प्रकट नहीं हो सकती। ऐसा है वह अनुभव। यह किसको होता है ? यह सिद्ध पुरुष की चर्चा नहीं है। यह साधक के जीवन की चर्चा है। जिसने प्रवृत्ति-काल में थोड़ी-थोड़ी देर के लिए भगवत्-समर्पण का भाव लेकर के शान्त रहने की चेष्टा की उस साधक के जीवन की चर्चा यह है। तो ऐसा होता है। और स्वामी जी महाराज ने कहा देखो भाई, सत्य के संग मैं तुम नित्य निरन्तर रहते ही हो।

जब तक तुम शरीरों का तादात्म्य लेकर के घोर प्रवृत्ति में रत हो रहे हो, उतनी देर तक तुम्हें उसका पता नहीं चलता। और जब सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति की शान्ति में आ जाओ, तो उस समय का जो तुम्हारा जीवन है, उसमें सत्य के संग में होने का अनुभव हो जाएगा, पता चल जाएगा। तो एक ही बात है, सत्य के स्पर्श का अनुभव कहो या सत्य के संग में होने का अनुभव कहो। मैं अविनाशी हूँ, मेरा नाश नहीं होगा, इस बात का पता चल जाता है आदमी को, शरीर के तादात्म्य के टूटते ही। यह भी साधन-काल की चर्चा है, यह सिद्ध जीवन की चर्चा नहीं है। सिद्ध जीवन में क्या होता होगा, सो सिद्ध महापुरुष जाने। मैंने तो ऐसा सुना है कि जब सब तरह से जीवन में पूर्णता आ जाती है, तो उसके बाद जो भी कुछ अनुभव होता होगा उसको शब्दों में बाँध सकना सम्भव नहीं होता है। तो अनुभवी संत जन जगत्-कल्याण के लिए सांकेतिक भाषा में कुछ-कुछ कह दिया करते हैं। पूरी तरह से तो कोई कह ही नहीं सकता है।

इस दृष्टि से अपने लोगों के लिए ध्यान देने की बात यह है कि भाई प्रत्येक दशा में हम सभी भाई-बहनों को अपने संकल्पों की पूर्ति से अपने को बचाना चाहिए। आप कहेंगे कि प्यास लगी है और जल चाहिए अपने को तो कैसे नहीं जल की आवश्यकता अनुभव करें ? और कैसे नहीं जल उठा कर पिएँ, ऐसा आप कह सकते हैं। संकल्प-रहित होने का अर्थ यह नहीं होता है कि शरीर की सेवा को छोड़ दिया जाए, ऐसा नहीं

होता है। लेकिन बात केवल इतनी सी है, कि वर्तमान परिस्थिति में प्यास बुझाने के लिए जल अगर उपलब्ध है, तो उसे लेकर के अवश्य ही शरीर की सेवा कर दीजिए, इसमें तो कोई संकल्प की बात नहीं है। और आप सोच करके देखिए कि शरीर की सेवा के लिए जो जरूरत मालूम हुई, उसकी पूर्ति की सामग्री अगर आपके सामने हैं तो वह कार्य रूप में बदल जाएगा कि संकल्प के रूप में बैठा रहेगा? जी? कार्यरूप में बदल जाने पर उसको संकल्प नहीं कहते हैं। वह तो वर्तमान कर्त्तव्य कर्म हो गया लेकिन जैसा मिल रहा है और जो उपलब्ध है, उससे संतोष न करके उसको पीते भी जाओ और भीतर-भीतर चिंतन में भी पड़े रहो। फ्रीज होता तो बड़ा अच्छा था, ठण्डा-ठण्डा जल पीते। यह क्या हो गया? यह संकल्प हो गया। अब होता तब न, अब है नहीं तो उसके चिंतन में क्यों पड़े हो? चिंतन में मत रहो। जो उपलब्ध है, काम करके खत्म करो। क्यों? क्योंकि तुम्हारे चिंतन में वह सत्य रहना चाहिए। तुम्हारे चिंतन में पर-पीड़ा से द्रवित सेवा का कार्य रहना चाहिए। तुम्हारे चिंतन में तुम्हारा परम प्रेमास्पद रहना चाहिए। अब ठण्डा जल मिट्टी के घड़े में से रखा मिल गया तो उससे संतोष न करके फ्रीज के चिंतन में क्यों पड़े हो? क्या ऐसा हो सकता है? कि फ्रीज का पानी जो है, वह तुम्हारी प्यास बुझा दें, आवश्यकता खतम कर दे। ऐसा हो सकता है नहीं हो सकता है और अनेक बार तो नुकसान पहुँचाते देखा गया है।

मैं तो कभी पी ही नहीं सकती। डर लगता है, गला खराब हो गया तो सब मजा ही चला जाएगा, अपना तो बोलना ही काम है। इस यन्त्र को ठीक-ठाक रखने के लिए में फ्रीज का पानी कभी पीती ही नहीं हूँ, डर के मारे। तो वह अनिवार्य तत्त्व नहीं है न? अनिवार्य तत्त्व न होने पर भी उसके चिंतन में पड़े रहना यह भूल है। उसके संकल्प में बँधे रहना यह भ्रम है। तो एक उदाहरण मैंने अपने लोगों के सामने रखा, कि जिससे

अपनी चेतना बनी रहे, सावधानी बनी रहे तो आगे काम हो जाएगा। केवल संकल्पों की उत्पत्ति मात्र से मनुष्य के व्यक्तित्व के मूल में जो अविनाशी शान्ति विद्यमान है, वह शान्ति भंग हो जाती है। केवल संकल्पों की उत्पत्ति मात्र से शान्ति भंग हो जाती है। और पूर्ति हो गई तो राग बढ़ गया और पूर्ति नहीं हुई तो क्षोभ बढ़ गया। तो उत्पत्ति में मेरी शान्ति चली गई और पूर्ति में मेरी स्वाधीनता चली गई।

राग बढ़ गया तो स्वाधीनता चली गई न? जिस व्यक्ति ने मेरी इच्छा-पूर्ति में सहयोग दे दिया तो मेरे भगवान की जगह पर, वो मेरे इष्ट की जगह पर उस व्यक्ति का चित्र मुझे दिखाई देने लग गया, तो स्वाधीनता हुई कि पराधीनता हुई? जी? पराधीनता हुई। तो देख लो तमाशा उसका। संकल्पों की उत्पत्ति हुई तो बैलेन्स चला गया, सन्तुलन चला गया, मौलिक शान्ति खत्म हो गई। मनोविज्ञान में साइकलॉजीकल टर्म काम में लेते हैं, कहते हैं, इक्लूब्रियम। पर्सनैलिटी में से, व्यक्तित्व में से इक्लूब्रियम चला गया।

इक्लूब्रियम का अर्थ क्या है? कि जिस समय किसी प्रकार की आवश्यकता बाहर से आपको मालूम नहीं होती है बाहर से वस्तु लेने की, उस समय आप अपनी स्वाभाविकता में स्थित होते हैं और जैसे कोई संकल्प उठा वह इक्लूब्रियम बदल गया, बिगड़ गया। क्या हो गया कि अब मैं अपने स्वरूप में, अपनी स्वाभाविकता में न रहकर के वस्तुओं की ओर खिंच गया। वृत्ति चली गई संसार की वस्तुओं में तो आप अपनी जगह पर स्थित नहीं रहे। संकल्प-उत्पत्ति ने मुझको अपनी स्वाभाविक शान्ति से दूर कर दिया। और कहीं उस संकल्प की पूर्ति हो गई तो पूर्ति ने मुझको सुख-भोग की जड़ता में डुबा दिया। आदमी किसी भी प्रकार के सुख-भोग की प्रवृत्ति में जब लग जाता है, तो वह जड़ता में

आबद्ध हो जाता है। स्वरूप की विस्मृति हो जाती है, परमात्मा की विस्मृति हो जाती है और वस्तु के संयोग का सुख आदमी को बिल्कुल जड़ बना देता है।

एक युवक स्वामी जी महाराज के पास आया करते थे। तो महाराज जी को इस बात में बड़ा आनन्द आता था, गीता भवन में उन दिनों में शुद्ध घी की बनी हुई गरम-गरम जलेबियाँ स्वामी जी के पास बहुत आती थीं। महाराज जी तो खाते नहीं थे लेकिन सब को मालूम था, कि उनके पास बहुत लोग रहते हैं, तो उनके लिए दे जाते। स्वामी जी महाराज उस युवक को ज़ब गरम जलेबियाँ खिलाते तो चार बजे भोर में किया हुआ सत्संग उसे याद आता और कहता, कि महाराज नित नव रस तो इन जलेबियों में है। प्रात: काल चर्चा हुई थी प्रेमी और प्रेमास्पद के बीच में नित नव रस का आदान-प्रदान चलता है।

नित नव रस का क्या मतलब है? कि वह रस ऐसा अद्‌भुत है कि प्रत्येक क्षण में नया-नया, नया-नया आनन्द देता है। प्रेमी को भी, प्रेमास्पद को भी, भक्त को भी, भगवान को भी। आप लोगों ने सुना भी होगा और महाराज जी के साहित्य में पढ़ा भी होगा। नित नव रस उसको बताया है महाराज जी ने। तो युवक जब तब गरम-गरम जलेबी खाए मीठा-मीठा स्वादिष्ट और कहे कि महाराज जी नित नव रस तो इन जलेबियों में है। क्या होता है कि सुख-भोग काल में व्यक्ति जड़ हो जाता है। चेतना से अलग हट करके, वस्तु से, शरीर से और विषय भोगने वाली इन्द्रियों से इतना उसका तादात्म्य हो जाता है, कि वह निज स्वरूप को भी भूल जाता है, निज परमात्मा को भी भूल जाता है।

तो संकल्प की पूर्ति हुई तो परिणाम क्या हुआ? कि हम चेतना से जड़ता के स्तर पर आ गए। स्वाधीनता से पराधीनता में बँध गए। किस प्रकार की परधीनता हो गई? कि आज किसी ने बढ़िया-बढ़िया भोग्य

वस्तु ला करके दे दी तो रह-रह कर उस वस्तु की याद आ रही है। रह-रह कर उस सहयोग देने वाले की भी याद आ रही है। निज स्वरूप की विस्मृति हो गई, परमात्मा की याद तो बड़ी दूर चली गई। बड़ा सज्जन आदमी है, बड़े मौके पर काम आ जाता है, बड़ा सुख दिया उसने, अब कर लो ध्यान उसका? तो स्वाधीनता है कि पराधीनता? पराधीनता है। तो संकल्प पूरे हुए, तो आप पराधीन हो गए, संकल्पों की उत्पत्ति हुई, तो आप शान्ति से विचलित हो गए और कहीं प्रकृति के विधान से संकल्प पूरे नहीं हुए तब तो क्रोध और क्षोभ का कोई अन्त ही नहीं है।

पहले अपने पर बिगड़ता है आदमी, मैंने बड़ी बेवकूफी की। फिर कहता है, कि मेरे साथी बड़े नालायक हैं, मेरा साथ नहीं देते हैं। फिर कहते हैं कि समाज बड़ा बिगड़ गया और नाराज होते हैं तो कहते हैं कि परमात्मा किसी लायक नहीं है। क्यों? क्योंकि मैंने जो चाहा, सो पूरा नहीं किया। सब नालायक हो गए, सब बेकार हो गए। अपना भी कुछ मूल्य नहीं रहा। क्यों नहीं रहा भाई? क्योंकि हमने चाहा सो तो पूरा हुआ ही नहीं। यह दशा जो है, यह दशा मेरे कहने से आपको मालूम हो रही है, कि जीवन के इस लम्बी अवधि में आपने अपने द्वारा अनुभव किया है?

अनुभव किया हुआ है। अनुभव किया हुआ है न? ग्रन्थ पढ़ने की जरूरत नहीं है। तो सत्संग का अर्थ क्या है? सत्संग का अर्थ यह है कि अपनी दशा का अध्ययन करो और जो त्याज्य प्रमाणित हो चुका है, एक बार नहीं अनेक बार जो त्याज्य प्रमाणित हो चुका है, उसका त्याग कर दो। तो आज का पाठ क्या रहा? अपने संकल्पों का त्याग, समाज के लिए हितकारी संकल्प का त्याग नहीं। अपने संकल्पों का त्याग, जिन संकल्पों का सम्बन्ध मेरे व्यक्तिगत सुख से है, उन संकल्पों का त्याग कर दो।

जिन संकल्पों का सम्बन्ध कुटुम्ब, परिवार और समाज के हित से है, उन संकल्पों को समष्टि की शक्ति के आधार पर समष्टि के संकल्प से मिला करके वर्तमान में काम हो सके, तो काम कर दो। और नहीं हो सके तो उस संकल्प का भी त्याग कर दो। तो मैंने स्वामी जी महाराज को करते हुए देखा है। महाराज के पास सब तरह के लोग आते थे। गृहस्थ लोग भी आते थे, लड़कों की बच्चों की पढ़ाई है, लड़कियों की शादी है तो माता-पिता का काम है तो खेल उलझा हुआ है । तो ये सब समस्याएँ आती थीं और उससे भी ऊँचे समाज-सेवक आते थे। संस्थाओं की सेवा करने वाले आते थे। तो क्या बताएँ, कमेटी के लोग समझते नहीं हैं? क्या बताएँ गृहस्थी वालों के समझ में नहीं आ रहा है, यह मामला गड़बड़ हो रहा है, वह मामला गड़बड़ हो रहा है। तरह-तरह की समस्याएँ आती तो महाराज जी कहते देखो भाई इस समस्या में तुम उलझे क्यों? सेवक का काम तो उलझना नहीं है। अगर तुम्हारे में सामर्थ्य है तो समझा करके इस काम को पूरा करो और नहीं है तो समष्टि के संकल्प में मिला कर छोड़ दो। तुम्हारे द्वारा नहीं होगा यह काम और सचमुच यह काम संस्था के लिए हितकारी है, तो समष्टि की शक्ति में इस संकल्प को मिला दो।

कह दो अगर यह संकल्प संस्था के लिए शुभ है, समाज के लिए शुभ है, संसार के लिए शुभ है, तो मेरी सामर्थ्य नहीं है, समष्टि की सामर्थ्य से यह काम हो जाएगा। कह करके तुम छोड़ दो। तुम छोड़ दोगे तो जगत् के संकल्प में वह संकल्प मिल जाएगा और समष्टि की शक्ति से काम होने लग जाएगा। तो तुम्हारे ट्रस्टी उसमें बाधा नहीं बन सकेंगे। ट्रस्टी तो पाँच-सात होते हैं न। तो समष्टि की शक्ति से यह सब काम होने लग जाएगा तो दो चार जन, पाँच जन, दस जन का विरोध कोई काम नहीं करेगा।

बहुत बार मैंने सुना स्वामी जी महाराज से कि तुम उलझते क्यों हो ? तो आदमी कब उलझता है ? समाज-सेवा का नाम लेकर के अपने संकल्प को उसमें रखता है, तब उलझता है। अगर शुद्ध सेवा का संकल्प है, तो सेवक कभी उलझ नहीं सकता है। प्रेम पूर्वक हाथ जोड़ कर प्रार्थना करके जो करना चाहिए सो करेगा।

प्रथम राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद जी के सम्बन्ध में सुना था मैंने और महात्मा गांधी के सम्बन्ध में सुना था और गणतन्त्र का विधान जब बन रहा था, तो विधान सभा के अध्यक्ष थे सच्चिदानन्द सिन्हा तो उनके जीवन के सम्बन्ध में मैंने सुना था, कि आ जाएँगे लोग जब, वह कौन कमीशन आया था शायद क्रिप्स मिशन जब आया था, तो उसके जो लोग थे तो बुला करके घर में उनका आतिथ्य किया उनको भोजन करवाया और उसके बाद काले झण्डे के साथ खड़े होकर क्विट इंडिया भारत छोड़ो कहा। तो प्रेम से व्यवहार करो नम्रता पूर्वक व्यवहार करो, उसको खिलाओ, पिलाओ और फिर अगर उसका विचार अपने लिए अहितकर है तो कहो कि यह हम नहीं मानेंगे।

प्यार क्यों घटाते हो ? अगर किसी का विचार गलत है, तो उसके गलत विचार को उससे हम छुड़ा दें, यह तो जरूरी है, लेकिन उससे दुश्मनी करें, यह जरूरी नहीं है। प्रेमपूर्वक मिलना और एक बार नहीं तो दस बार। डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का भी यही स्वभाव था। एक बार में समझ में नहीं आया तो थोड़ी देर बाद फिर वही उथल-पुथल मचेगी तो फिर हाथ जोड़ कर खड़े हो जाएँगे। आइए इस बार और हम लोग बात करें देखें शायद सुलझ जाए। फिर से बात करें। गाँधी जी के जीवन में भी यही है। कभी हार नहीं मानते थे। दस बार तुम उनसे लड़कर के चले जाओ, ग्यारहवीं बार फिर बुलाएँगे, आओ भाई, बैठो बात करेंगे हम लोग।

प्रेम पूर्वक मिलो, प्रेम पूर्वक बात करो, अगर ना समझी से अथवा किसी व्यक्तिगत कम्पलीकेशन से तुम्हारी सत्य की आवज उसकी समझ में नहीं आ रही है, तो भी हार मत मानो। बुलाते रहो, बार-बार उससे मिलते रहो। वह न आये तो तुम उसके पास जाते रहो। दुनिया के जो बड़े आदमी हुए, उन लोगों ने विरोधियों पर विजय प्राप्त की, तो प्रेम और आत्मीयता और अपने सौजन्य से विजय प्राप्त की। और अपने सत्य में उनको अटूट विश्वास था कि यह बात जो मैं समाज के सामने रख रहा हूँ, इसमें मेरा व्यक्तिगत स्वार्थ कुछ नहीं है। तो ऐसे संकल्प अगर हमारे जीवन में हों कि जिनसे सचमुच संस्था का हित होने वाला है, तो उस संकल्प को बारम्बार प्रकट करने में कोई हर्ज नहीं है।

लेकिन अगर दूसरे लोग नहीं समझ रहे हैं, कि जल्दी से मान नहीं रहे है तो अभिमान के मारे हम क्रोधित हो जाएँ, तो जाओ चूल्हे भाड़ में, तुम्हारे हित के लिए मैं कह रही थी, तुम नहीं समझ रहे हो, तो जाओ तुम्हारा जो भी कुछ हो जाए। तो बड़े आदमी ऐसा नहीं करते हैं। वे किसी को भी गैर नहीं मानते, सबको अपना आत्मीय मानते हैं। इसलिए गलत रास्ते पर जाने वाला, आघात भी कर दे, आक्रमण भी कर दे, गाली भी दे दे, अपमानित भी कर दे, तब भी वे बड़े आदमी हैं वे उसको अपना मानना छोड़ते नहीं हैं। गले लगाते ही रहेंगे, प्यार करते ही रहेंगे, समझाते ही जाएँगे, हार नहीं मानेंगे और फिर भी उनका वश नहीं चला तो वे उस संकल्प में उलझे हुए नहीं रहते हैं। क्यों नहीं उलझे हुए होते हैं? जगत है प्रकृति का तो प्रकृति के संकल्प में मिला कर छोड़ देते हैं। कि भई मैं तो अकिंचन हूँ, मेरा तो अपना कोई बल नहीं है। मेरा यह शुभ संकल्प समाज के लिए हितकारी है, तो हे प्रकृति तुम जानो तुम्हारा काम जाने। फ्री हो गए। फिर चिंतन नहीं आएगा। जो भगवत् भक्त होते हैं वे क्या करते हैं कि अगर शुभ संकल्प उनमें उठते हैं, तो वे परमात्मा के संकल्प

में मिला देते हैं। हे प्यारे, यह आपकी सृष्टि हैं, यह आपकी पूजा के रूप में संकल्प उठा है, यह संकल्प मैं आपके संकल्प में मिला करके मैं छोड़ता हूँ।

तो अपने यहाँ भी यह चीज है कि कोई भी हितकारी संकल्प उठे तो भगवत्-संकल्प में उसको मिला दो अर्थात् प्रभु को समर्पित करके काम आरम्भ कर दो। पूरा हो जाए, तो श्रेय परमात्मा को और पूरा न हो जाए, तो योजना उनकी। अपने फ्री रहेंगे। बन गया काम तो बड़े आनन्द की बात और नहीं बना तो इसमें भी कोई हित छिपा होगा। भगवत्-विश्वासी साधक जो होते हैं, वे भी संकल्प में फँसते नहीं हैं। क्रिश्चियनिटी में संत ईसा और उनकी माता उन दोनों के जीवन का मूल मंत्र है, It is his will यह प्रभु का संकल्प है, हे प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो।

हे प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो । ये माँ-बेटे दोनों ऐसे भगवत्-विश्वासी हुए कलियुग के भक्तों में कि दुनिया के लोग आकर के क्राइष्ट की अभ्यर्थना करने लगे, आरती करने लगे, पूजा करने लगे, चरण का स्पर्श करने लगे, तब भी क्राइस्ट उस सम्मान से बिल्कुल अलग रहते थे। संसार के भिन्न-भिन्न प्रान्तों से, भागों से लोग आकर के मरियम के आगे नत मस्तक होने लगे कि ये माता धन्य हैं, जिसने ऐसे पुत्र को जन्म दिया, जो सबको ईश्वर के प्रेम की ओर लगाने वाला निकला, जो सबके जीवन का अंधकार मिटाने वाला निकला तब भी माता जी को कुछ लगता नहीं था।

जब लोग उनकी अभ्यर्थना करते, तो आसमान की ओर देखने लग जाती और हाथ जोड़ कर कहती, प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो रही है। हे परमात्मा यह तुम्हारी योजना पूरी हो रही है, तुम जो चाह रहे हो सो हो रहा है। ऐसा करके भगवान की प्रार्थना करते है। और जिस समय ईसा मसीह को सलीब पर लटका दिया गया, तब भी माँ-बेटों ने कहा, प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण

हो, मुझे कोई शिकायत नहीं है। प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो। तो लोगों को ईश्वरीय-प्रेम का पाठ पढ़ाते और लोगों ने ध्यान नहीं दिया, उनके अपने नगर में विरोध हुआ। बाकी तो सारे संसार में जहाँ-जहाँ उनकी पहुँच थी, सब जगह ईश्वरीय प्रेम का पाठ पढ़ा करके आनन्द से चले आए। बड़ा सम्मान हुआ, बहुत खातिरदारी हुई बहुत से चेले बन गए। जब अपने पुराने नगर में, जहाँ वे जन्मे थे बालक थे, वहाँ आए तो विरोध शुरु होने लगा। तो विरोध जब शुरु होने लगा तो एक दिन अधीर होकर के एकांत में परमात्मा से उन्होंने कहा—पिता मैं क्या करूँ? आपका दिया हुआ सम्वाद, संसार को सुनाने का काम आपने मुझे दिया, सो मैं कर रहा हूँ। कोई सुनता ही नहीं है, मैं क्या करूँ? और मुझे क्या करना है? तो उनको अंतर से आवाज मिली कि मेरे मिशन को पूरा करने के लिए अभी तूने प्राणों का बलिदान कहाँ किया, अभी और बाकी है। तो सुन लिया, अच्छी बात है। अगर मेरे प्राणों के बलिदान से ही पिता का काम होने वाला है तो बलिदान सही। तो प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो, प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो। जिस रात्रि में गर्वनर के सिपाही आने वाले थे जिसेज को पकड़ने के लिए। तो भगवत्-भक्त जो होते हैं, उनको परमात्मा के ही समान सर्वज्ञता की शक्ति मिल जाती है। अब क्या होने जा रहा है, अब क्या होने वाला है वे सब जानते हैं। तो इनको पता चला गया कि आज रात को गर्वनर के सिपाही आएँगे तो दस बजे रात तक खाना, पीना सब काम हो गया, जंगल में जाकर के बैठ गए और प्यारे का गुणगान हो रहा है, दूसरा कोई काम ही नहीं था। करते-करते आधी रात को उठ गए और कहने लग गए कि आज की रात तो नींद की रात नहीं है, आज की रात तो प्रार्थना की रात है। आप सब लोग बैठिए प्रार्थना करिए और मैं थोड़ी देर एकान्त में रहूँगा। अकेले में चले गए और जा के पिता से कहने लगे प्यारे पिता, तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य है। आपकी इच्छा सब प्रकार से पूर्ण हो जाए।

इस जीवन के प्रति आपकी जो योजना है, सब सफल हो जाए, मुझे कुछ इन्कार नहीं है। लेकिन हे मेरे प्यारे, जो शारीरिक कष्ट आने वाला है, उससे मुझको डर लग रहा है। क्या जाने, कितना कष्ट होगा मैं कैसे झेल पाऊँगा। इनको तो सब दिख रहा था कि ऐसे क्रॉस बना होगा। उस पर हाथ में पाँव पर सब कील ठोके होंगे, सिर पर काँटो का ताज पड़ा होगा, ऐसे रक्त-पात होगा, इस प्रकार का कष्ट होगा। एक राइटर ने अँग्रेजी में कविता में ग्रंथ लिखा है ईसा मसीह का, तो बहुत गहराई से मैंने उसको पढ़ा शुरू से अन्त तक, तो उसमें लिखा था कि क्रॉस जो जमीन पर लकड़ी का बना करके रखा हुआ था, उस पर इनको लिटा करके कीलें ठोंक दी गई। वह राइटर लिखता है कि बेदर्द काम करने वालों ने वह खम्भा उठाया और जमीन में जो गड्ढा बनाया हुआ था उसमें ले जा करके ऐसे धम से रख दिया। इमेजिन करो, हृदय में फील करो, कि जीसस को कितना कष्ट हुआ होगा।

बेदर्द सजा देने वालों ने उस सलीब को उठाया और गड्ढे में धम से डाल दिया। सारे शरीर में जगह-जगह पर कीलें ठुकी हुई है, उसमें जब जर्किंग हुई होगी तो कितनी पीड़ा हुई होगी? सो यह सब उनको दिख रहा है कि अब यह सब होने वाला है। तो अधीर होकर पुकार रहे हैं, हे पिता तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य है। मैं सब करूँगा आपका काम। तो आपकी इच्छा पूर्ण हो उसमें इन प्राणों का बलिदान हो जाए। इस आहुति के लिए मैं तैयार हूँ। लेकिन मेरे समर्थ पिता, मुझे शक्ति दे देना वह कष्ट मैं झेल सकूँ, इतनी शक्ति मुझे दे देना। प्रार्थना कर लिया, आश्वासन मिल गया और अतुलित सामर्थ्य से सम्पन्न होकर के वहाँ से उठ करके चले आए। और घोड़ों पर सवार होकर हाथ में टार्च लेकर हथियार और हथकड़ी लेकर आधी रात को जंगल में गर्वनर के सिपाही आ रहे थे, तो परम कारुणिक संत हैं, हृदय में बड़ी करुणा है तो सोचा हमारे भक्त लोग सब

कुछ लोग लुढ़क गए थे नींद में और कुछ लोग चिंता में बैठे हुए थे कि स्वामी को क्या हुआ ? आज क्या हो रहा है ? आज कैसे-कैसे कर्म हो रहे हैं ? ऐसे चिंता में पड़े कुछ लोग बैठे हुए थे और बहुत से लोग सो गए थे। उसी जगह जंगल में मसीहा चले गए आगे, कि घोड़ों की टापों को सुन करके और सिपाहियों की तलवारों की, हथियारों की झन्कार सुन करके, ये बच्चे लोग, बालक लोग, सब सो रहे हैं भक्त लोग इनकी नींद खुल जाएगी। अचकचा कर उठेंगे तो घबरा जाएँगे, तो जल्दी से बढ़ करके आगे चले गए सिपाहियों के पास और फिर कहते हैं कि अरे भाई आप लोगों ने आधी रात को कष्ट क्यों किया ? कल शाम को 10 बजे रात तक नगर के चौराहे पर बाजार में मैं अपने पिता के प्रेम की कथा खुले आसमान के नीचे कर रहा था। उस समय आप लोगों ने मुझे पकड़ लिया होता, तो आधी रात को आपको नींद खराब नहीं करनी पड़ती।

उस करुणा की तो कथा मैं क्या कहूँ ? मैं यह कहने जा रही थी कि हम सब लोगों के भीतर अपने संकल्प का आग्रह होता है और उस आग्रह को लेकर के कभी समाज पर स्थापित करते हैं कभी संस्था पर स्थापित करते हैं। और हमारे आग्रह के कारण, मेरे अभिमान के कारण मेरी बात जब दूसरों की समझ में नहीं आती है, तो कहते हैं जाओ चूल्हे-भाड़ में, नहीं मानते हो तो मत मानो, तुम्हारे हित के लिए मैंने कहा था। तो यह हृदय की ऊँचाई नहीं है, यह नीचता है। यह अपने संकल्प का आग्रह है। नहीं तो जिन महापुरूषों ने जगत् की पीड़ा से पीड़ित होकर के समाज की सेवा करने का बीड़ा उठाया, उन्होंने कभी भी किसी को गैर नहीं माना। विरोध करने वाले को प्यार ही करते रहे यह मैंने देखा है।

●

प्रवचन 18

पहले उन्होंने (महाराज जी ने) कहा, योग का भोग मत करो और उसके अर्थ में यह बताया कि जब स्वत: अभिव्यक्त होने वाले योग में, प्रतिपादित योग में नहीं, अभ्यास के द्वारा मन को वश में करना, चित्त को स्थिर करना, इन्द्रियों को विषय-विमुख करना। इन सब बातों का जब तक अभ्यास चलता है तो अभ्यास-वश जो बाह्य और आन्तरिक वृत्तियों में थोड़ी से शान्ति मिलती है उसको महाराज कह रहे हैं प्रतिपादित, अभ्यास से प्राप्त किया हुआ। और निष्कामता पूर्वक कर्त्तव्यनिष्ठा के अन्त में स्वभाव से जो शान्ति आती है, उसको अभिव्यक्त होने वाला, स्वत: होने वाला योग कह रहे हैं।

शरीरों से असंगता में एक शान्ति की अभिव्यक्ति होती है। आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक सर्वस्व समर्पण में शरण्य की कृपा में एक शान्ति आती है। और इस प्रकार से जो अपने आप आने वाली शान्ति है, उसको महाराज कह रहे हैं कि, उसका .भी भोग मत करो। क्या होता है? इसमें तो हम प्राय: अनेक साधक इसमें शामिल हो जाएँगे। हम सब लोग जब मूक सत्संग की चर्चा करते हैं, तो समय-समय पर ऐसा वर्णन करते हैं। इतनी देर तो इतना अच्छा लगा, ऐसी शान्ति रही, कोई हलचल नहीं थी अपने में। किसी प्रकार का चिंतन नहीं था और इतनी देर के बाद तो ऐसा होने लगा, ऐसा होने लगा।

तो हम शान्त रह सकते हैं, वृत्तियों को अंतर्मुख कर सकते हैं, इस प्रकार का भास जो है, उसके सम्बन्ध में महाराज कह रहे हैं कि यह योग का भोग है। कैसे? कि शान्ति की जो अभिव्यक्ति होती है, वह एक प्राकृतिक तथ्य है। गुण जितने हैं वे या तो प्राकृतिक मानिए, दैवी मानिए अथवा विश्वास की दृष्टि से अनन्त परमात्मा का स्वभाव मानिए। उसके साथ अहम् को लगा देना योग का भोग है। अब क्या किया जाए? प्रारम्भ

में मुझे ऐसा सूझता था और मैंने अनेक बार महाराज जी से निवेदन भी किया था कि महाराज जन्म-जन्मांतर का थका हुआ आदमी । पुरानी बात तो याद नहीं है, पिछले-पिछले जन्म में किन-किन बातों से थके थे, सो तो याद नहीं है, लेकिन इस बार की याद है ।

यह क्या है ? कि अंतर के संघर्ष और बाहर के संघर्ष दोनों ही में पड़ा हुआ आदमी बुरी तरह से थक जाता है । क्रोध करना नहीं चाहते हैं, क्रोध आ ही गया, लोभ के वश दूसरों के साथ दुर्व्यवहार नहीं करना चाहते हैं, उससे प्रेरित होकर कर ही बैठे । तो कहीं क्रोध सता रहा है, कहीं लोभ सता रहा है, कहीं अभिमान सता रहा है, कहीं इन्फ्यूरिटी का दुःख है, कहीं सुपरयिटी का मद है । तो सब विकार जो हैं, वे व्यक्ति को थकाते हैं । साधक कोटि के लोग जो होते हैं, सत्संगी जो होते हैं, वे अंतर में उठने वाले विकारों पर विजय पाने की चेष्टा में लगे रहते है । कितनी देर लगेगी किसको, वह तो अपनी तैयारी की बात है भाई ? कौन कितनी जल्दी पार करेगा ? लेकिन जो साधक कोटि के लोग होते हैं, वे अंतर में उठने वाले विकारों को सँभालते रहते हैं, कन्ट्रोल में रखने की कोशिश करते हैं कि भाई उनके अनुसार हम काम तो नहीं करेंगे । तो यह अंतर का संघर्ष है । मन चाहता है कुछ, विवेक कहता है कुछ, परिस्थिति कहती है कुछ । बड़ा फर्क होता है सबमें, तो इनके संघर्ष में भी काफी शक्ति खर्च होती है और आदमी थकता है । और बाहर का भी संघर्ष है । बाहर से अभियोजन में परिस्थितियों की प्रतिकूलता में, निकटवर्ती प्रिय जनों की प्रतिकूलता में बहुत ही आदमी को डूबना पड़ता है, थकना पड़ता है ।

तो पहले-पहल सत्संग के प्रभाव से जब भीतर-भीतर से आराम होने लगा, तो मैंने महाराज जी को बताया कि महाराज जी जीवन भर का और जन्म जन्मांतर का इन सब बातों से थका हुआ आदमी, उसको जब शान्ति मिलेगी, तो उसको तो बहुत अच्छा लगता है । अब कैसे निकलेगा

उसमें से? उसमें समाएगा, तो उसको तो बहुत प्रिय लगेगा। तो क्या करें? तो स्वामी जी महाराज ने सुझाव दिया था, बहुत स्वास्थ्यकर और बहुत ही उपयोगी सुझाव है। उन्होंने कहा था कि देखो शान्ति का आना तो स्वाभाविक है साधक के जीवन में और अनिवार्य भी है। क्योंकि उसके बिना उसके आगे किसी प्रकार का कोई विकास होता नहीं है। तो उसका आना अनिवार्य भी है और स्वाभाविक भी है। लेकिन तुम एक काम करो कि जब शान्ति आए उसमें विश्राम मिलेगा अपने को, आराम लगेगा तो उतना हिस्सा तो जरूरी है।

शुरू-शुरू में ले लो आराम, लेकिन भाई, तुम पड़ाव को मंजिल समझ कर बैठ जाओगी, तो आगे नहीं बढ़ना होगा। अब रास्ते की चीज हैं न? शान्ति के बाद तो देह से तादात्म्य टूटने का प्रश्न उठेगा फिर शान्ति के बाद निज स्वरूप से अभिन्न होने का प्रश्न आएगा। फिर शान्ति के बाद भगवत्-भक्ति और भाव की वृद्धि का प्रश्न आएगा। तो महाराज जी ने कहा कि, अगर इस पड़ाव को, साधन के रास्ते में एक जो पड़ाव है, उसी को अगर मंजिल समझ कर बैठ जाओगे, तो आगे का विकास नहीं होगा। अच्छी बात, तो बैठें नहीं कैसे? तो शान्ति तो इतनी मीठी लगती है और मैं नहीं जानती हूँ कि अनुकूल और सुखद परिस्थितियों में पड़े हुए लोगों को कैसा लगता होगा, वह तो मुझे पता नहीं है, लेकिन मैं अपनी बात अच्छी तरह से जानती हूँ कि प्रतिकूलता और कठिनाइयों में जो लोग पले हैं, उनको वह शान्ति कितनी प्यारी लगती है।

भीतर और बाहर का थका हुआ आदमी जब एकदम से रोम-रोम बिल्कुल शान्त, स्निग्ध हो जाता है, न भीतर से कोई चिंतन है न बाहर से कोई संघर्ष है। बहुत अच्छा लगता है, बहुत मीठा लगता है, जैसे कि गर्मी में धूप में तपा हुआ कोई व्यक्ति हो और वृक्ष की शीतल छाया उसे मिल जाए तो उस छाया में कितनी सुखद अनुभूति है। यह उसे ही पता चलेगा,

एयर कन्डीशन्ड में बैठे हुए को पता नहीं चलेगा, कि वृक्ष की छाया कैसी मीठी होती है। यह उदाहरण दिया मैंने, अपने-अपने ढंग से आप लोग अर्थ लगा लेंगे। तो स्वामी जी महाराज ने कहा कि कोई हर्ज नहीं है वह तो प्रभु का मंगलकारी विधान है। थके हुए को विराम देने ही के लिए शान्ति की अभिव्यक्ति पहला कदम है, साधक के जीवन में सफलता का। वह तो ठीक ही है, आएगा कोई बात नहीं है, लेकिन अगर तुम प्रारम्भ से उस बात को जानते हो कि शान्ति जो अभिव्यक्त हुई है, उसके आगे भी मेरा जीवन है, उससे आगे भी मेरा जीवन है, तो अगर लक्ष्य पर दृष्टि तुम्हरी रहेगी तो वह शान्ति जो है, तुम्हें बाँध नहीं सकेगी। उसको जो काम करना है सो कर देगी। थकावट मिटा देगी और लौकिक तथा पारौकिक दोनों प्रकार की शक्तियों की वृद्धि करा देगी इतना काम शान्ति का है। लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की शक्तियों का कैसे? कि शांति के सम्पादन से कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के जीवन में स्फूर्ति आती है, जिससे वह कर्त्तव्यपालन कर सके। शान्ति की अभिव्यक्ति से अहम् में से विचार का उदय होता है, जो सत्-असत् का विभाजन कराता है। शांति की अभिव्यक्ति में से भाव की वृद्धि होती है, जो विश्वास को सुदृढ़ बनाती है, सजीव बनाती है। भगवत-प्रेम से अभिन्न कराती है। तो इस दृष्टि से शान्ति का सम्पादन भी भाई-बहनों के लिए, सब प्रकार के साधकों के लिए, एक अनिवार्य पथ है।

तो महाराज जी कह रहे हैं कि उस शान्ति में अद्भुत-अद्भुत गुणों का विकास होता है। बहुत से भौतिक गुणों का भी विकास होता है और बहुत से अलौकिक गुणों का भी विकास होता है। तो साधक यदि उन स्वतः विकसित होने वाले गुणों को अपनी विशेषता मान ले, तो उसका विकास रुक जाएगा। यह योग का भोग हो जायेगा। जैसे कि आप बैठे हैं शान्तिपूर्वक और शान्ति-सम्पादन के आधार पर आपकी अन्तः इन्द्रियाँ

निस्तेज हो गयीं हैं, थक गयीं हैं, मान लीजिए ऐसा हो गया है, तो दूर से बैठा हुआ कोई व्यक्ति किसी प्रकार की कोई उलझन में पड़ा हुआ है तो उसके मन की बात आपको मालूम हो जाएगी, अगर और किसी भाव से कोई आकर के बैठ गया है, तो उसके चित्त में क्या भाव है, यह सब आपको पता चल जाएगा। तो दूर की बातों को जान लेना, दूर की वस्तुओं को नजदीक प्रस्तुत कर देना और आकृति को गायब कर देना, दृश्य को अदृश्य कर देना इस तरह की बहुत सी शक्तियाँ आती हैं। शान्ति-सम्पादन के बाद योग में। तो सचमुच जो नित्य योग के उपासक होते हैं, वे लोग इस प्रकार के चमत्कार को कुछ गिनते नहीं हैं। वे लोग इस प्रकार के चमत्कार को कुछ गिनते नहीं हैं, कुछ नहीं गिनते, सुनते नहीं, मानते नहीं, देखते नहीं, ऐसा चलता है। और जो कच्चे साधक इसको अपनी विशेषता मान लेते हैं, कि मुझमें इतनी बड़ी विशेषता आ गयी कि हम दूसरों की थॉट-रीडिंग कर सकते हैं, अदृश्य को दृश्य कर सकते हैं, संकल्प से दूर की वस्तु को नजदीक प्रस्तुत करा सकते हैं तो योग का भोगी हो जाएगा। उसका विकास रुक जाएगा। एक बात बतायी महाराज जी ने।

दूसरी बात जो इससे भी अधिक गूढ़ है वह उन्होंने कहा यह वाक्य मैंने आज ही सुना। इस प्रकर की व्याख्या 'मूक सत्संग और नित्य योग' में तो खूब है। पहले से सब दिया हुआ है लेकिन यह वाक्य मैंने आज सुना। वे कह रहे हैं कि इसके विपरीत जो साधक भोग का भोग नहीं करते हैं अर्थात् लौकिक तथा पारलौकिक ये जो शक्तियाँ अभिव्यक्ति हुईं, उनके साथ वे अपने अहम् को नहीं मिलाते हैं। समझ में आता है। ये मेरी विशेषता है, ऐसा करके भी नहीं मानते हैं। कैसा मानते हैं, कि यह तो अनन्त का स्वभाव है, यह तो प्राकृतिक तथ्य है, ऐसा मानते हैं। अपने को उसके साथ मिलाते नहीं हैं। तो ऐसे जो साधक होते हैं, अपने को उसके साथ मिलाते नहीं हैं, तो इन साधकों की एक बड़ी भारी विशेषता

होती है। क्या विशेषता होती है? तो महाराज जी कह रहे हैं कि स्वभाव से अभिव्यक्त होने वाला यह जो योग है उसमें एक गति होती है। कैसी विपरीत बात है देखिये। सब प्रकार से कर्म और चिन्तन को छोड़कर, सब प्रकार से शान्त हो जाना, यह मेरा पुरुषार्थ हुआ। कर्मेन्द्रियों से कोई कर्म न करूँ और ज्ञानेन्द्रियों से कुछ देखना सुनना सोचना न करूँ।सूक्ष्म शरीर की क्रियाओं में किसी प्रकार के संकल्प-विकल्प अथवा चिंतन को प्रवेश न करने दूँ। संत कबीर ने कहा—"तन थिर, मन थिर वचन थिर, सुरति निरति थिर होय, कहे कबीर वा क्षणक को कहव न पावे कोय।" तो एक ओर तो योगी के लिए पुरूषार्थ में यह बताया गया कि तुम सब प्रकार से अप्रयत्न हो जाओ अकिंचन हो जाओ, अचाह हो जाओ, अप्रयत्न हो जाओ, कोई किसी प्रकार का प्रयत्न तुम्हारे अहम् में से स्फुरित हो न हो, इसको योग कहा गया।

सब प्रकार की शान्ति तो बड़ी विचित्र बात है। मनुष्य के अहम् रूपी अणु की विलक्षणता है। मनुष्य के व्यक्तित्व की बड़ी विलक्षणता है कि अपनी ओर से वह सब प्रकार से शान्त हो जाए। स्वामी जी महाराज ने बड़ा बढ़िया शब्द चुना है—अप्रयत्न कहीं भी नहीं पढ़ा होगा आपने इस शब्द को अप्रयत्न हो जाओ, कुछ मत करो। ऐसा मत करो, ऐसा मत करो, शान्त हो जाओ, मन को वश में करो, चित्त को वश में करो, कुछ नहीं कहा। कहा अप्रयत्न हो जाओ। सब प्रयत्न तुम्हारे शेष हो गए। अब कुछ भी करणीय रहा नहीं है। सब खत्म हो गया।

तो बड़ी विलक्षणता है, मनुष्य के अहम् में और वह क्या है? कि साधक जब ज्ञान के प्रकाश में विश्वास के आधार पर, कर्त्तव्य-निष्ठा के परिणाम में जब सब प्रकार से अपने को अप्रयत्न कर लेता है, अप्रयत्न हो जाता है, उसके अहम् में किसी प्रकार की सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्रियाओं का भी स्फुरण नहीं होता। सब बन्द हो गया। यह नहीं कि मन के स्तर पर आया

तो मैंने उसको दबाया। वह अहम् में से स्फुरण ही समाप्त हो गया। वह अप्रयत्न हो गए, तो देखिए कैसी विलक्षणता है। महाराज जी कह रहे हैं कि योग में जो स्वाभाविक गति होती है, जो आपको देहातीत जीवन में ले जाएगी। यह योग की जो शक्ति है, जिसमें यह अलौकिक गति है, उसका आरम्भ कब होगा? जब हम हर प्रकार से अप्रयत्न हो जाएँगे तब होगा। उधर से सारा बन्द हो गया तो वहाँ से आरम्भ हो गया। 'मूक सत्संग नित्य योग' वाले ग्रन्थ में स्वामी जी महाराज ने लिखा है कि उसके बाद जबकि साधक को कुछ भी करणीय शेष नहीं है, हर प्रकार से वह अप्रयत्न होकर के बिल्कुल शान्ति में अवस्थित हो गया, तब उसके बाद उस योग में एक अलौकिक गति पैदा होती है और वह इतनी तीव्र होती है, कि उसमें साधक को फिर कुछ सोचना, करना नहीं पड़ता। वह स्वतः ही सम्पूर्ण अहम् को ले जाकर के उसके उद्गम में मिला देती है। तो शान्ति की अभिव्यक्ति क्या हुई? शान्ति की अभिव्यक्ति वह केन्द्र बिन्दु है, जहाँ कि मौलिक जगत् में बहने वाली हमारी सारी वृत्तियों की शक्तियाँ एक जगह पर आ करके केन्द्रित हो जाती है।

तो यह आधा हिस्सा योग का हुआ। योग का यह पूर्व पक्ष है। जहाँ पर भीतरी, बाहरी, कर्मेन्द्रियों की, ज्ञानेन्द्रियों की, स्थूल शरीर की, सूक्ष्म शरीर की सब वृत्तियाँ, सब शक्तियाँ जहाँ पर आ करके के बिलकुल शान्त हो जाती हैं, केन्द्रीभूत हो जाती हैं, यह योग का पूर्व पक्ष है। उसके बाद बड़ी विकट घड़ी आती है साधक के सामने कि उस शक्ति में जो अलौकिकता, विलक्षणता पैदा होती है, बहुत से साधक लोग बेचारे उसी में उलझ कर रह जाते हैं। मानते हैं कि हम बड़े सिद्ध हो गए और सिद्धि के उसमें लोभ में उसको खर्च करने लग जाते हैं, चमत्कार दिखाने लग जाते हैं।

और वह ही है व्यक्तित्व की पूजा। मैं जब अपने सत्संगी भाई-बहनों के बीच में कभी-कभी बात करती, तो मैं स्त्रियों के लिए, पुरुषों के लिए

दोनों के लिए कहती, देखो भाई, कोई खास फर्क नहीं पड़ा। एक दिन था जब हीरा, मोती के द्वारा शरीर को सजा करके हम समझते थे कि बड़े आदमी है, होता है न ऐसा? एक दिन ऐसा भी होता है, बढ़िया-बढ़िया कपड़े पहनों, कीमती कीमती, आभूषण पहनों तो लगता है कि हम बड़े आदमी हैं। वह ही व्यक्तित्व की पूजा वहाँ तक भी जाती है अब हीरा मोती का त्याग कर दिया, अब मामूली-मामूली पहनने लगे अब मामूली-मामूली खाने लगे और बहुत सादगी अपना ली। अब टाट बिछा कर सोते हैं, हम गद्दी चादर तकिया नहीं लगाते। अब ऐसा करते हैं, अब एक ही कमण्डल रखते हैं। उसी में सब सब्जी, रोटी, दाल सब मिला कर खा लेते हैं। अलग-अलग पात्र नहीं रखते, अब जल पीने का पात्र नहीं रखेंगे, अब चूल्लू से भरकर पेट भर लेंगे बहुत अच्छी बात है। जहाँ तक जरूरत कम रहेगी तो शरीर की गुलामी से ज्यादा अवसर मिलेगा तो अच्छा रहेगा, फुरसत रहेगी आगे बढ़ने के लिए। लेकिन वहाँ पहुँच करके भी वही व्यक्तित्व की पूजा शुरू हो जाती है।

क्या हो गया? तो हम तो ऐसा कर सकते है, हम तो बिमारी दूर कर सकते हैं, हम तो यह कर देंगे, वह कर देंगे। बस सब चला गया। किसी दिन हीरा-मोती से सजा कर सोचते थे कि हम बहुत बड़े हैं, किसी दिन कारण शरीर की स्थिति की शान्ति में अभिव्यक्त होने वाले चमत्कारों से व्यक्तित्व को सजा लिया जाता है और कहा जाता है हम तो बड़े शक्ति शाली। तो महाराज कहते हैं—योग का भोग हो गया।

सुखों का भोग तो आदमी सहज से त्यागता है। जिस साधक के चित्त में अविनाशी जीवन की लगन लगती है, सुखों का भोग तो वह सहज से छोड़ देता है, लेकिन योग की अभिव्यक्ति में भोग को त्यागना बहुत विकट घाटी है, कठिन बात है। लेकिन उसमें स्वामी जी महाराज ने उसको कितना सहज कर दिया हम लोगों के लिए, कहते हैं कि अगर तुम सावधान

रहोगे, योग का भोग नहीं करोगे तो क्या होगा, कि उस शान्ति में से, उस योग की शक्ति में से एक स्वाभाविक गति पैदा होगी। यह वाक्य आज सुनायी दिया और इसके पहले मैंने सुना था कि अलौकिक गति पैदा होती है। तो उसमें और इसमें ज्यादा अन्तर नहीं है। स्वाभाविक भी होगी अलौकिक भी होगी। अलौकिक इस अर्थ में कि उसमें किसी प्रकार के करण शामिल नहीं हैं, इसलिए वह अलौकिक है। हाथ, पाँव, आँख, नाक, इच्छा, संकल्प, सूक्ष्मतिसूक्ष्म अहम्-स्फूर्ति कुछ भी उसमें शामिल नहीं है, उस गति में, इसलिए वह स्वभाविक भी है और अलौकिक भी है। वह गति अपने आप पैदा होती है, साधक को करना नहीं पड़ता है। साधक को पता नहीं चलता है कि कब क्या हुआ? और वह जो योग की शक्ति है उसमें स्वाभाविक रूप से गति आती है।

वह गति साधक के अहम् को ले जाकर के उद्‌गम में विलीन करती है, यह स्वामी जी महाराज ने कहा। यह शब्द भी महाराज का अपना ओरिजनल है, उद्‌गम में जाकर विलीन होना। इसका अर्थ क्या है? कि अब शब्दों के पचड़ों में कौन पड़े? कोई कहेगा परम तत्त्व में, कोई कहेगा ब्रह्म में, कोई कहेगा कुछ, कोई कहेगा कुछ। अलग-अलग शब्द है, कहीं पर निर्वाण कहलाता है कहीं पर सिद्ध शिला कहलाता है, कहीं पर परमतत्त्व कहलाता है, कहीं पर ब्रह्म कहलाता है। बहुत से नाम है उसके। तो स्वामी जी महाराज ने वे सब छोड़ दिए, इनमें तो बहस हो सकती है। सिद्ध-शिला की धारणा क्या है? निर्वाण की धारणा क्या है? ब्रह्म का रूप निरूपण करते-करते शास्त्रकारों ने बहुत समय-शक्ति खपाया, उनके पचड़े में कुछ नहीं। स्वामी जी कहते हैं कि उद्‌गम में ले जाकर मिला देती है। तो उद्‌गम में तो कोई झगड़ा हो ही नहीं सकता। उद्‌गम का अर्थ क्या है? कि जहाँ से आपके अहम् रूपी अणु की उत्पत्ति हुई थी, जिसमें से आप निकले थे, उस अलौकिक गति ने ले जाकर आपको उसमें शामिल कर

दिया। तो अब चाहे इसको किसी भी रूपक से समझो और किसी भी मत-मजहब-पंथ की शब्दावली में समझो, यह अपनी-अपनी रुचि, अपनी-अपनी बनावट और अपनी-अपनी शिक्षण की बात है, भाई। लेकिन सच्ची बात तो यही है।

'उद्‌गम' शब्द ऐसा निरापद है, निर्विवाद है, कि जिसमें किसी प्रकार का कोई मत-भेद उठा ही नहीं सकता है। नाम कुछ भी रख लो। नित्य योग किससे होगा? तो उसी से होगा जिसमें से तुम्हारी उत्पत्ति हुई है। और किससे होगा? जी! और तो किसी से हो ही नहीं सकता है। जिसमें से तुम्हारी उत्पत्ति हुई है, उसमें जाकर के तुम जुट गए, तो नित्य योग हो गया। तो अविनाशी का अविनाशी योग इन वाक्यों के द्वारा महाराज जी ने उस अविनाशी, आनन्दमय स्वतन्त्र आस्तित्व का संकेत दिया है। तो संकेत ही है। असलियत तो, जो इस जीवन से अभिन्न हो जाता है, उसको पता चलता है। हम लोगों को क्या पता चले। लेकिन इस पंथ के पथिक जो हैं, इस रास्ते से चलने वाले साधक जो हैं, उनको सावधान करने के लिए ये बातें बहुत आवश्यक हैं और बहुत अच्छी है और बहुत आशा देने वाली भी हैं। जैसे कि अहम् का शुद्धीकरण होता है पहले। सबसे पहले अहम् की शुद्धि होती है।

शुद्धि कैसे होती है भाई? तो सत्संग के प्रभाव से होती है। सत्संग का अर्थ क्या है? तो अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करो। मेरा जाना हुआ असत् क्या है? मेरी जानी हुई बात यह है कि शरीर जो मेरे पास है, वह पहले ऐसा था नहीं, आज जैसा है, आगे वैसा रहेगा नहीं। इस पर मेरा अपना स्वतन्त्र नियन्त्रण चलेगा नहीं। इसलिए यह जानी हुई बात है, कि शरीर मेरा नहीं है। उस जानी हुई बात को हम मानते नहीं हैं। इस शरीर को अपना मानते हैं, इसके बल पर अपने को बलशाली समझते हैं, इसको अपना मानकर इसके संयोग से सुख भोगना पसंद करते

हैं। यह असत् का संग है। इस असत् के संग का त्याग सत्संग कहलाता है। अर्थात् अपनी जानी हुई बात का आदर किया मैंने। तो आदर किया तो उसका अर्थ क्या निकलेगा? कि इस शरीर पर मेरा स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, यह मेरा नहीं है? तो किसका है? प्रकृति का है, परमात्मा का है, जिसका भी मानो। जगत् का है तो उसके लिए इसका उपयोग करेंगे। जो लोग असत् के संग का त्याग कर देते हैं, उनके अहम् की अशुद्धि मिटने लगती है। शरीर के प्रति ममता मिटेगी पहले फिर उसके बाद शरीर की सहायता से सुख भोगने की कामना नाश करने का नम्बर आएगा। ममता का भी नाश करना है, कामना का भी नाश करना है। तो इस प्रकार से सत्संग के प्रकाश में क्रमशः साधक के जीवन में से विकारों का नाश होने लगता है।

तो यह अहम् की शुद्धि कहलाती है। अहम् शुद्ध होता है। मैंने वैज्ञानिक स्तर पर भी देखा और स्वामी जी महाराज के पास विवेचन करके बैठ करके भी देखा। तो मुझे यह पता चला कि जिस अहम् को आप उस ब्रह्म से अभिन्न करना चाहते हैं, जिस अहम् को आप उस परम प्रेमास्पद के प्रेम में विलीन करना चाहते हैं उस अहम् में जब तक अशुद्धि रहेगी, किसी प्रकार भी यह मेल बैठेगा नहीं।

पकड़ में आती है बात? क्योंकि उद्गम हमारा शुद्धातिशुद्ध है, निर्विकार है, उसमें किसी प्रकार कोई मिलावट नहीं है। हम जो यहाँ बैठे-बैठे अहम् की मिलावट की दशा में उससे अभिन्नता की बात सोचते हैं, तो कोई साधना फलित होती नहीं। महाराज जी ने कहा कि पहले सत्संग करो। सत्संग के फल से क्या होगा? तो अहम् शुद्ध होगा। फिर शुद्ध अहम् में जब विशेषताएँ आएँगी, उनके अभिमान का त्याग करो। उनको अपना मत मानों, तो योग का भोग नहीं होगा। क्यों? वे विशेषताएँ अनन्त की है, तुम्हारी नहीं हैं।

ये सब जो रास्ते की तैयारियाँ है, ये कहाँ तक ले जाएँगी हम लोगों को ? आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर भगवत्-समर्पण के भाव तक ले जाएँगी और विचार के आधार पर तीनों शरीरों से असंगता तक ले जाएँगी । विचार-पथ के साधक शरीरों की असंगता के लिए ये सारी तैयारी करते हैं। और विश्वास-पथ के साधक सर्वस्व समर्पण भाव में अहम्-शून्य होने की तैयारी करते हैं। तो होती है तैयारी और जिसकी लगन जैसी है, उसको उतना समय लगता है। सबको एक समान समय नहीं लगता है ।

जो बहुत परेशान है, जो बहुत तीव्रता से अपने उद्‌गम में मिलना चाहता है, अपने प्रेमास्पद से अभिन्न होना चाहता है, अपने निज स्वरूप का बोध चाहता है । जो लोग जितनी तीव्रता से उस लक्ष्य से अभिन्न होना चाहते हैं, उनको उतना ही कम समय लगता है । और अपने जैसे लोग, जिनको थोड़ा दुनिया भी अच्छी लग रही है, अच्छी तरह से खाने, पीने, जीने की सुविधा बन गई है, समाज में थोड़ा सा स्थान बन गया है, दस लोग अच्छी दृष्टि से देखते हैं तो यह भी अपनी खुराक बन गई है । तब तो देर लगेगी । जी ! यह भी अपनी खुराक बन जाती है । मैं क्या बताऊँ ? पदाधिकारी होना, धन कमाना और सुख वैभव में रहना, वह तो आदमी को पकड़ता ही है ।

यह साधक कोटि के लोगों के लिए और भी संकट की बात हो जाती है । इसलिए उनको देर लगती है । क्यों ? क्योंकि इसी दशा में, मैं अपने लिए कहूँ कि इसी दशा में अच्छा लगने लगता है । तो लक्ष्य अभी दूर है, मिला नहीं, पता नहीं, रास्ते में कौन घड़ी में कौन-सा व्यवधान आ जाएगा । कितने दिनों के लिए मेरा यह यह निष्क्रमण रुक जाए । पता नहीं है, कब क्या हो जाए कुछ नहीं मालूम है । फिर भी महाराज अभी ठहरो, अभी थोड़ी देर में आएँगे तुम्हारे पास, ऐसा होता है । क्यों ? अभी तक

अच्छा लग रहा है। तो जिसको थोड़ी-थोड़ी साधना, थोड़ा-थोड़ा साधन का फल, थोड़ी-थोड़ी भीतर की शान्ति, थोड़ी-थोड़ी अपनी विशेषताएँ अच्छी लगने लगती हैं, खुराक बन जाती हैं। ठीक तरह से नींद आने लगती है, अच्छी तरह से भूख लगने लगती हैं, तो ऐसे लोगों को ऐसे साधकों को देर लगती है। जल्दी से वह पोइंट नहीं आता कि शुद्धातिशुद्ध अहम् जो है सब प्रकार के विकारों के नाश करने के बाद वह शुद्ध अहम् रह गया है वह तत्काल ही जाकर के उस अलौकिक गति के साथ जाकर के उद्गम में मिल जाए। इसमें देर लगती है। रूकावट हो गई, कहीं भी जाकर के।

तो महाराज जी बारम्बार-बारम्बार इस बात को हम लोगों को याद दिलाते रहते हैं। और मुझे तो सब तरह की बातों को निवेदन करने का एक शौक भी था और जरूरत भी थी कि भई सब बात उनको बताई जाए। तो जब अपनी तकलीफ बताओ, कि महाराज ऐसे कैसे हो सकता है। मुझे तो जब विद्या-अध्ययन करने की आवश्यकता थी, तो एक यूनिवर्सिटी एक्जामिनेशन पास किया और आगे के लिए और चलना है तो रात-रात को नींद नहीं आती थी, अब कैसे करेंगे। अब कैसे करेंगे? तो मालूम था कि उससे अपने में कोई भी विशेषता नहीं आने वाली है, तब भी उसके लिए इतनी व्याकुलता थी और अब जब जीवन का प्रश्न सामने आया, तो एकदम कभी आज ही और कभी ना। अभी की अभी सिद्धि और अभी की अभी असिद्धि।

मानव सेवा संघ के साहित्य में खूब लिखा है, महाराज जी ने भर दिया है। जब चाहो तब, अभी तो अभी, तो जिज्ञासा की तीव्रता, माँग की तीव्रता और माँग की पूर्ति युगपद है। बार-बार लिखा है एक साथ हो जाता है। तो मैं कभी-कभी बताऊँ स्वामी जी महाराज को महाराज ऐसा कैसे? अभी तो मैं बहुत नींद लेकर सो जाती हूँ, अच्छी नींद आ जाती है, कभी ऐसा नहीं होता कि बीच रात में नींद खुल जाए और उठ करके

मैं बैठूँ और सोचूँ कि अभी तक तो लक्ष्य तक पहुँचे नहीं, गहरी नींद कैसे आ गई। जब संत मिलन नहीं हुआ था तब यह बात थी कि बीच-बीच में रात में नींद खुल जाए और घड़ी की टिकटिक आवाज सुनाई दे, तो हृदय की गति तीव्र हो जाए। उठ करके बैठ जाऊँ बिस्तर में और सोचूँ कि अच्छा? घड़ी टिक टिक कर रही है। एक-एक टिक के साथ जिन्दगी का एक-एक पल निकल जा रहा है और अभी तक मेरे जीवन की राह नहीं बनी, अभी तक संत-मिलन नहीं हुआ, अभी तक मुझे जीवन का पंथ नहीं मिला तो उस समय तो यह दशा थी। बीच-बीच में उठ-उठ करके रात को बैठ जाती थी अकेले-अकेले और सोचती रहती थी, अब क्या होगा, अब क्या होगा? और संत-मिलन हुआ और सच्चा मार्ग मिल गया और अपने सामने किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है। फिर भी सत्य से मिले बिना बढ़िया भूख लगती है, बढ़िया नींद आती है।

तो ऐसा क्यों? वह तीव्रता क्यों नही है? कहाँ सो गई है कैसे शिथिलता आ गई। ऐसे-ऐसे मैं बहुत प्रश्न किया करती। तो महाराज तरह-तरह से मेरी मनोदशा को जानते। जान-जान कर समय पर हमको सब सलाह दे दिया करते। तो एक दो बार उन्होंने मुझ से यह बताया कि अरे भाई अभी मौज लो दुनिया की, अभी मौज लो। तो इसी में शिथिलता होती है। और अपनी कथा बताई थी। उन्होंने कहा कि देवकी जी, तुम लोगों की तरह हम पढ़े-लिखे तो थे नहीं भाई। हम तो जीवन की घटनाओं से सीखते थे। एक घटना उन्होंने सुनाई अपने जीवन की। कहा कि खेत में गाँव के बाहर एकान्त में रात्रि को मैं कहीं पर बैठा था। कहते थे महाराज जी कि गुरु के पास जाने के बाद यह कभी ऐसा याद नहीं है कि $2\frac{1}{2}$ बजे रात के बाद हम लोग कभी सोते थे। केवल अपने बारे में नहीं, महात्मा जी के पास जितने नए-नए लड़के गुरु के शिष्य बन कर आए जीवन के उत्थान के लिए। कहते थे, तुम लोग क्या सत्संग करोगे? उन दिनों में

तो बड़ी व्यग्रता थी स्वामी जी महाराज को। सन्यासी हुए पीछे और लक्ष्य की प्राप्ति का आनन्द आ गया उनको पहले। स्वामी विवेकानन्द जी जानते हैं, वे ही हम लोगों को कुछ-कुछ बता दिया करते हैं। इनको मालूम है।

तो महाराज जी ने एक घटना सुनाई कहा कि एक रात को मैं ऐसे ही अपनी व्यग्रता में गाँव के बाहर खेत की मेड़ पर अकेले कहीं बैठा था। तो रात में जो खेत में जगह-जगह पर मचान बना-बना करके जानवरों से अनाज को बचाने के लिए रखवाले जगाया करते हैं आपस में एक दूसरे को। तो उनकी आवाज सुनाई देती थी और किसी की नहीं। तो कहें स्वामी जी महाराज कि ऐसी कलेजे में हलचल मचे उनकी ध्वनि को सुन करके। एक-दूसरे को पुकार-पुकार कर चिल्ला रहे थे और टीन में कनस्तर में कुछ डाल करके हिलाते हैं, जिससे कि जानवर आकर के पौधों को काटे नहीं, भागते रहें। तो स्वामी जी महाराज कहें कि मेरे भीतर ऐसी बात उठी, मैं कहूँ कि अच्छा मुट्ठी भर अन्न के लिए, ये रखवाले सारी रात जग रहे हैं और तुम प्रेमास्पद से मिलना चाहते हो और तुम्हें नींद आती है? मुट्ठी भर अन्न के लिए ये रखवाले सारी रात जग रहे हैं और तुम प्रभु से मिलना चाहते हो और तुम्हें नींद आती है?

जीवन की कथा बड़ी ही सरस है। और जहाँ से हमने यात्रा को आरम्भ किया है, वहीं से इस रस की वृद्धि आरम्भ हो गई है। उसमें सम्पूर्णता में व्यक्तित्व को थाम करके रखा है। आज जब परिस्थितियों का परिवर्तन साधक भाई-बहनों को उस पंथ पर से डिगा नहीं सकता लेकिन अफसोस है अपने लिए, कि जो कदम-कदम पर इतना सावधान करता रहता है और महाराज जी के कहने के अनुसार जो प्रेमी जनों से मिलने के लिए तुमसे अधिक आतुर है, उसकी प्रियता, उसकी छत्र-छाया, उसका

संरक्षण, उसकी तत्परता अनुभव करने के बाद भी, अगर उससे मिले बिना मुझ से रहा जाता है, तो मैं अपने लिए कहूँगी, कि धिक्कार है इस जीवन को। अपने लिए कहूँगी क्योंकि मेरे लिए उनके अतिरिक्त और कोई है नहीं। श्रोता के रूप में वे स्वयं ही विद्यमान है मेरी राग की निवृत्ति के लिए। इसलिए अब हमारे ध्यान में आ रहा है कि मुझे चुप होकर देखना चाहिए, कि बोलने का राग खत्म हुआ कि नहीं? शान्त रहा जाता है, कि नहीं बिना बोले। जो अनमोल जीवन है, उसमें हमारी स्थिति होती है कि नहीं। ऐसा अब मुझे देखने का जी हो रहा है। अब शान्त हो जाइए थोड़ी देर के लिए।

●

प्रवचन 19

पूज्य संत महानुभाव, सत्संग-प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

प्रसंग चल रहा है, जीवन की नीरसता के नाश से व्यर्थ चिन्तन का अन्त करना । तो एक रहस्य मानव-जीवन के सम्बन्ध में यह जानने योग्य है क्योंकि मुझे अपने आप में जीवन नहीं मिला । अपने आप में सरसता नहीं मिली, इसलिए रस की खोज में हम बाहर-बाहर दृश्य जगत् की ओर आकर्षित होते हैं । कभी-कभी किसी-किसी साधक का ऐसा ख्याल बनता है, कि क्या बताऊँ मेरा ध्यान जो है वह संसार में भटकता फिरता है, इसलिए भगवत्-भजन मुझसे नहीं बनता । ऐसा कोई-कोई साधक सोचता है । आप लोगों को भी लगता होगा ।

यहाँ बैठे हुए कई भाई-बहन इस ढंग से सोचते होंगे कि क्या बताएँ, मेरा मन जो है, चित्त जो है वह संसार में और संसार के दृश्यों में, वस्तुओं में, व्यक्तियों में, भटकता फिरता है, इसीलिए मेरे द्वारा नहीं बनता । ऐसा सोचते होंगे, लेकिन बात ऐसी नहीं है । बात ऐसी है कि अपने अन्तर में जीवन का आधार मुझे नहीं मिला, अपने में जो अपना है, उससे अनुराग मेरा नहीं हुआ । अपना जो निज स्वरूप है, उसमें मेरी स्थिति नहीं हुई । अविनाशी से अविनाशी योग नहीं हुआ । तो योग में सरसता है, निज स्वरूप के बोध में आनन्द है, निज प्रभु की मधुर स्मृति में रस है ।

तो हम सभी भाई-बहनों को चाहिए वही रस । तो हमारी दृष्टि नहीं गई, वह रस अपने को नहीं मिला, तो जीवन की विविध प्रवृत्तियों के द्वारा दृश्य जगत् से संयोग बनाकर उससे मन बहलाना चाहते हैं । रस तो है नहीं कहीं । नाशवान में वह रस कहाँ, जो मानव हृदय को तृप्त कर सके । तो वस्तुओं के और व्यक्तियों के संयोग में रस है नहीं, इसलिए तृप्ति होती नहीं है । फिर भी अपने अन्तर के रस की अभिव्यक्ति नहीं हुई, तो मन चित्त इत्यादि जो हमारी भीतरी-बाहरी इन्द्रियाँ हैं, इस प्रकार के साथी हैं

इनके द्वारा हम दृश्य जगत् में विचरण करके किसी न किसी के साथ संयोग बना के मन बहलाने का उपाय करते रहते हैं। बड़ा मजा आया, बड़ा मजा आया, बड़ा अच्छा लगा वहाँ घूमने गए थे बड़ा अच्छा लगा था। यहाँ भोजन किया था बड़ा अच्छा लगा था। ऐसे खेल तमाशे देखे बड़ा मजा आया था। तो आया था अभी बताओ, अभी तुमको कैसा लगता है ? तो अभी तो भई थक कर आ गए हैं ? विश्राम ले लेंगे सो लेंगे और कल उठकर फिर देखेंगे। मजा आया था और चला गया है और उसी की उम्मीद में फिर एक नया संकल्प लेकर बैठे हैं तो दृश्य जगत् की वस्तुओं से और व्यक्तियों से कभी हम अपने को हटाते ही नहीं हैं कि स्वयं अपने आप में जो अविनाशी और आनन्दमय रस है, उसकी अभिव्यक्ति का कोई अवसर मिलें। और जब तक भीतर-भीतर नीरसता रहती है तब तक मन और चित्त की दशा स्वभाविक रह ही नहीं सकती। क्योंकि हमारे ही यह सब organs हैं, tools हैं, सब ये जो हैं ये सब हमारी सहायता के लिए हैं तो जब हमें भीतर-भीतर से अच्छा नहीं लगता, तो बाहर देखना पसंद करते हैं। और बाहर देखना चूंकि मुझे पसंद है इसलिए मन और चित्त में सब बाहरी बातों के चित्र बनते रहते हैं, बिगड़ते रहते हैं। संकल्प उठते रहते हैं, मन के मोदक खाते रहते हैं।

ऐसा होगा, तो बड़ा मजा आएगा। ऐसा होगा, तो बड़ा मजा आएगा। सोचते ही सोचते जिन्दगी निकल जाती हैं और बेमजे में आखिरी साँस छूट जाती है। यह होता है, तो साधना में मन नहीं लगता, भजन में मन नहीं लगता, ध्यान में ध्यान ठीक नहीं होता घर के काम में काम अच्छा नहीं लगता। तो अच्छा नहीं लगता, मीठा नहीं लग रहा है, इसका एकमात्र कारण यह है कि हमारे आपके जीवन-दाता ने हम लोगों को बनाया है तो इसलिए बनाया है कि हम शान्ति के रस में, स्वाधीनता के रस में, प्रभु प्रेम के रस में अपने को सदा-सदा के लिए आनन्दित रख

सकें। वह रस जब तक जीवन में प्रवाहित नहीं होता है, तब तक नीरसता रहती है। और भीतर-भीतर नीरसता रहती है तो वृत्तियाँ सब बाहर-बाहर बिखरती रहती हैं। यह हैं मनुष्य के जीवन का दर्शन और मनोविज्ञान। सलाह क्या है संत की?

संत की सलाह यह है कि तुम मन और चित्त के पीछे मत पड़ो। मन ऐसा खराब, चित्त ऐसा खराब, यह मत सोचो। तुम ऐसा सोचो कि इनकी चंचलता, इनकी विकृति कब मिटेगी? जब मेरा वर्तमान सरस होगा तब मिटेगी। जीवन की सरसता में सब प्रकार की वृत्तियाँ शान्त होती है। संत कबीर की वाणी है वे कहते हैं "मन मस्त हुआ तब क्यों बोले" जो बातचीत करने की आवश्यकता आदमी को मालूम होती है न। अकेले बैठा दो तो सब परेशान होते हैं। भई अकेला-अकेला अच्छा नहीं लगता है। अच्छा नहीं लगता है, तो दिल बहलाने के लिए क्या करना चाहिए। तो 5-10 की मण्डली में रहना चाहिए। मिल-जुल कर बात करना चाहिए। सुख-दुःख एक दूसरे से कहते रहना चाहिए। तो बोलने की जरूरत क्यों पड़ती है, सुनने वाले साथी की जरूरत क्यों पड़ती है? क्योंकि अन्तर में सूना-सूना है। तो संत कबीर कहते हैं मन मस्त हुआ तब क्यों बोले। जो भीतर के रस में मस्त हो गया, उसको बोलने की आवश्यकता नहीं, साथी की जरूरत नहीं फिर आगे कहते हैं—ऐसा पायो मान सरोवर, ताल तलैया क्यों डोले? जिस रस की खोज है उसे, उस रस के अगाध सागर को उसने पा लिया और उस रस में वह डूबा हुआ है तो इधर-उधर क्यों डोलेगा। जरूरत ही नहीं है उसको चलने, फिरने की, कहने की, बोलने की।

एक महिला मेरे साथ काम करने वाली थी। मैं महाविद्यालय में थी वह Education Board में थी और तरह-तरह के काम थे उनके पास, घूमने-घामने का भी था, भ्रमण इत्यादि का था। एक दफा बातचीत हो रही

थी। तो समय कैसे कटता है, इस पर चर्चा चल पड़ी, तो सब इस तरह की बातें होती रहती। तो वह कहने लगी कि मुझको तो कोई दिक्कत नहीं होती है। काम करना होता है, तो काम करती हूँ और काम खत्म हो गया तो प्लेन है तो क्या, दफ्तर है तो क्या, घर है तो क्या, मैं अपने ध्यान में डूब जाती हूँ। उन्हें पता ही नहीं चलता कि कितना समय निकल गया। कब मैं अकेली हूँ उनको कोई तकलीफ ही नहीं थी। क्यों नहीं थी ? कि उन्हें आता था अपने आप में रहना। और अपने आप में रहना जिसने सीख लिया, अन्तर के रस का स्वाद जिसको मिल गया, उसको बाहर की कोई जरूरत ही नहीं है।

तो हम सब लोग साधक-वर्ग के भाई-बहन जो हैं, वे बैठ करके अपनी-अपनी दशा को देखें। थोड़ा घूम-धाम आए, थोड़ा दिल बहला कर आ गए, थोड़ा मिल-जुल कर आ गए, थोड़ा ग्रन्थों का पाठ कर लिया, थोड़ा व्याख्यान कर लिया, थोड़ा सुन लिया, तो यह सब तो ठीक है लेकिन यह सारी तैयारी किस बात के लिए है ? यह सारी तैयारी इस बात के लिए है कि ये सब जो मेरे साथी जुटे हुए हैं आज, इन साथियों का साथ छूटने से पहले, अपना जो नित्य सम्बन्धी है, उससे मेरी मुलाकात हो जाए कि जिसके फलस्वरूप मुझे फिर शरीर और संसार की जरूरत ही न रहे। अपने आप में जो अविनाशी जीवन है, उसमें अखण्ड आनन्द है तो वह मुझे मिल जाए। बाहरी सुखद परिस्थितियों के बदलने का अपने को कोई भास ही न रहे। ऐसा होना चाहिए। तो प्रश्न उठाया गया था कि व्यर्थ चिंतन मिटता क्यों नहीं है ?

स्वामी जी महाराज ने उत्तर दिया कि अपने जीवन की नीरसता के कारण नहीं मिटता है। तो नीरसता कैसे मिटेगी ? नीरसता उपजी क्यों ? तो अगर मैं मनोविज्ञान के हिसाब से बताऊँ तो एक महीना class हम लोग लेते थे, मनुष्य के जीवन में नीरसता आई कहाँ से। संत के पास बैठ

कर पढ़ना शुरू किया तो उसके एक वाक्य में उत्तर है, नीरसता जीवन में आई क्यों ? तो ज्ञानी जन कहेंगे कि निज स्वरूप में स्थिति नहीं है, इसलिए नीरसता है। विश्वासी जन कहेंगे कि अपने प्यारे की विस्मृति हो गई, इसलिए नीरसता है। मैंने अपने को समझाया, तो मैंने कहा कि रस का मूल स्रोत, जीवन का मूल स्त्रोत, ज्ञान का मूल स्रोत, जिसमें से सातत्य रस निकलता है जिसमें continuity रहती है, उसकी विस्मृति हो गई तो उधर से जब अपने को मैंने विमुख कर लिया, तो भीतर में नीरसता भर गई।

और संसार के साथियों के बीच रहते हुए भी अनेक प्रकार की अपूर्णताओं को सुखद मान करके जी बहलाते हुए भी भीतर-भीतर वह नीरसता व्यक्ति को सताती है, अभाव सताता रहता है और जो सजग व्यक्ति होते हैं वे इस बात को बहुत जल्दी पकड़ लेते हैं। मेरे जीवन में जो अन्तर्निहित नीरसता है, उसका कारण यह है कि जीवन के मूल स्रोत से विमुख हो गए हैं। और नहीं तो आप सच मानिए सिद्ध पुरुष की बात तो सिद्ध पुरुष जाने, यह साधन काल की चर्चा मैं कर रही हूँ, कि साधक की दृष्टि जिस क्षण से वास्तविक जीवन की ओर चली जाती है, अनन्त परमात्मा की ओर चली जाती है, उसी क्षण से उसके भीतर की नीरसता का और निराशा का नाश हो जाता है।

केवल यह ध्यान चला जाए कि अरे हम कहाँ भूले थे, यहाँ तो कुछ है ही नहीं है। सच्ची बात तो यह है कि हम तो अनन्त तत्त्व से बने हैं। हमारा जो जीवन है, वह तो अमरत्व से बना हुआ है मुझे, तो वह ही चाहिए। कहाँ भूल गए हम ? मेरा तो समर्थ स्वामी है, मेरा तो नाथ परम प्रेमास्पद प्रेम का अगाध सिंधु है, मुझे तो उसका प्रेम चाहिए। अपने को क्या चाहिए, इस अर्थ पर, वास्तविक जीवन पर दृष्टि चली जाए तो उसी में इतना उत्साह और आशा बढ़ जाती है कि वर्तमान की नीरसता खत्म

होने लगती है आरम्भ में। आगे चलकर तो फिर कुछ कहना ही नहीं है। तो महाराज जी यह सलाह दे रहे हैं कि नीरसता के कारण जब तुम्हारे मन में चित्त में बड़ी नीरसता, चंचलता, विकृति दिखाई देती है तो मन और चित्त के पीछे पड़ना छोड़ दो। मेरा मन बड़ा खराब है, मेरा चित्त बड़ा खराब है। मेरे मन में बहुत विकार है, मेरे चित्त में बड़ी चंचलता है, ऐसा सोचना छोड़ दो। क्यों? क्योंकि यह गलत बात है। सही बात क्या है? सही बात यह है कि चूंकि मैंने यह भूल रखी है अपने जीवन में, कि मुझे व्यक्तियों के संयोग से रस मिलेगा, बहुत से सामानों से सुख मिलेगा। भूल जीवन में मैंने रखी है, इसलिए यह मन और चित्त बेचारा वस्तुओं और व्यक्तियों की ओर जाता रहता है, भटकता रहता है। तो क्या करें? तीन बातें महाराज जी ने हमारे सामने रखीं, नीरसता का नाश कैसे होगा? तो पहली बात रखी दुखी मात्र के दुख से करुणित होना, सुखी मात्र के सुख से प्रसन्न होना। यह मानवता का लक्षण जो है, इस लक्षण को धारण करोगे, तो नीरसता मिट जाएगी। अपने व्यक्तिगत सुख-दु:ख में हम लोग फँसे रहते हैं, इसलिए जीवन में नीरसता रहती है। व्यक्तिगत सुख के भोग में पड़े रहो तो कई बार ऐसा देखा गया है, कि माता-पिता भाई-बन्धु दस सदस्य एक परिवार में हैं, तो जो व्यक्तिगत सुख का लालची होता है वह अपने निकटवर्तियों के सुख तक की परवाह नहीं करता है। ऐसा होता है।

महाराज जी कहते थे, अपना अनुभव सुनाते थे कि एक बार उन्होंने बताया कि एक सज्जन मित्रता मानते थे स्वामी जी महाराज से और ले जाते थे अपने घर में कभी-कभी भोजन कराने के लिए। बहुत पुरानी बात है, जब स्वामी जी महाराज को बहुत लोग नहीं जानते थे, तब की बात है। तो महाराज कहें कि मुझे इतना दु:ख होता था घर खाने का सामान देखकर। खूब अच्छी तरह थाली परोस दी जाती थी। उस घर में बच्चे भी थे, उस

घर में बूढ़े भी थे, उस घर में स्त्रियाँ भी थीं। तो थाली जब लग जाती सबकी, उसके बाद एक कटोरी में खूब पूरा घी गरम भर के उस आदमी के पास रख दिया जाता था। छोटे-छोटे बच्चे मामूली-मामूली खा रहे हैं और वह आदमी खुद अकेले खा लेता था घी। स्वामी जी महाराज को अच्छा नहीं लगता था। तो इन्होंने पता लगाया होगा, पूछा होगा कि भई, यह ऐसी कैसी बात है, तो मालूम हुआ कि यह पहलवानी करते हैं। तो उनके ध्यान में ही नहीं आता है कि शरीर के पोषण के लिए मन को कितना कठोर और हृदय को कितना शुष्क बना रहे हैं। छोटे-छोटे बच्चे जिस घर में रूखा-सूखा खाएँ, उस घर का बड़ा सयाना आदमी अगर एक कटोरी घी अकेला पी जाए तो शरीर तो उसका मोटा हो जाएगा। पहलवानी में वह जरूर आगे बढ़ सकता है लेकिन उसका हृदय कितना कठोर हो जाएगा? और हृदय की कठोरता में कितनी नीरसता है? जीवन में रस तो नहीं रहेगा, शरीर में मांस बढ़ जाए, पुट्ठे मजबूत हो जाएँ। पहलवानी में जिस प्रतिद्वन्द्वी के साथ पहलवानी करनी है उसे पटक दे भले लेकिन हृदय में जो कठोरता और शुष्कता आ जाएगी, उससे उसे छुटकारा नहीं मिल सकता। इसलिए महाराज जी ने कहा पहला उपाय करो नीरसता का नाश करने के लिए कि उदार बनना सीखो। उदार बनने का अर्थ क्या है कि दुखियों के दुःख में करुणित होना और सुखियों के सुख में प्रसन्न होना सीखें। तो करुणा और प्रसन्नता का रस जो है, वह अनेक प्रकार के विकारों का नाश करने में मददगार है। और हमारी भी और आप भाई-बहनों की जानी हुई बात है, कि जीवन में से जब विकार निकल जाते हैं, तो नीरसता मिट जाती है। यह विकार जो है जीवन का और हृदय की कठोरता जो है यह नीरस बनाकर रखता है। एक उपाय यह बताया।

दूसरा उन्होंने बताया कि भई रस तो है स्वाधीनता में। जो सभी साथियों और सब सामानों से अपने को मुक्त कर सकता है, अलग रह

सकता है, देहातीत जीवन का आनन्द जो ले सकता है, उस स्वाधीनता में रस है। तो तुम तो पराधीन बनकर जीवन को सरस बनाना चाहते हो। अमुक प्रकार का खाना खाने को मिलेगा, तो बड़ा सरस लगेगा, अमुक प्रकार की मण्डली में मनोविनोद होगा तो बड़ा सरस लगेगा, तो पराधीन का जीवन कहीं सरस हुआ है ? नहीं होता। जितना-जितना भोग-प्रवृत्ति में शामिल होते चले जाओ, उतनी-उतनी जड़ता बढ़ती जाएगी, दुर्बलता बढ़ती जाएगी, अभाव बढ़ता जाएगा, नीरसता बढ़ती जाएगी, रस नहीं मिलेगा इसलिए आनन्द नहीं मिलेगा। तो वे कहते हैं अपने को स्वाधीन बना लो। तो जो स्वाधीन हो जाता है, उसका जीवन सरस हो जाता है। सरस जीवन में किसी प्रकार के व्यर्थ चिंतन की उत्पत्ति नहीं होती है।

तीसरी बात बता रहे हैं कि प्रेमी हो जाओ। तो जो लोग प्रेमी बन जाते हैं, उनकी भी नीरसता का नाश हो जाता है और प्रेम के रस में सब प्रकार की गतियाँ बिल्कुल शान्त हो जाती हैं, सब प्रकार की गति शान्त हो जाती है। तो सरसता से व्यर्थ चिंतन का नाश होता है, न कि दबाव डालने से, मन और चित्त की निंदा करने से, कि जबरदस्ती करने से नीरसता का नाश नहीं होता, व्यर्थ चिंतन मिटता नहीं है।

प्रेमी जनों की चर्चा आप ने बहुत सुनी होगी, पढ़ा होगी। कभी-कभी अपना हृदय भी जब स्नेह से उमड़ता है, तो आदमी बातचीत करना बन्द कर देता है, चुप हो जाता है। साहित्यकार लोग भी लिखते हैं कि जब हृदय उमड़ता है, तो वाणी मूक हो जाती है। ठीक है न ? अपने लोगों को भी मालूम है, जिससे आपका स्नेह है, बहुत दिनों के बाद उससे भेंट मुलाकात हो जाए और हृदय स्नेह से उमड़े तो चुप हो जाते हैं कि बोलते हैं ? चुप हो जाते हैं। होता है ऐसा। क्या हो गया ? मैं क्या बताऊँ बड़ी गरीबी है मानव-जीवन की, कि अपने अन्तर में रस का सागर है और हम बाहर से जी बहलाने में परेशान है। अगर भीतर से स्नेह का भाव उमड़ता

है तो कोई गति होती नहीं है, सब रुक जाती है। गति का होना ही इस बात का प्रमाण है कि प्रवृत्ति में बाहर की चंचलता और अन्दर की चंचलता सब ले लेते हैं। मन और चित्त की चंचलता भी ले लीजिए और बाहर से हर समय कुछ न कुछ, कुछ न कुछ करते रहने की धुन में लगे रहना, भीतर-बाहर की जितनी भी गतिशीलता और चंचलता है यह सब रस के अभाव में है।

तो रस की वृद्धि जब होती है, तो गति रुक जाती है। उदाहरण मुझको बहुत अच्छा लगता है। राम चरित मानस में कई बार ऐसा प्रसंग आया है, भरत लाल जी बहुत व्याकुल हो करके, क्या-क्या कहने के लिए गए। तो बहुत कुछ सोच रहे हैं, जाकर ऐसे कहेंगे, ऐसे कहूँगा, ऐसे कहूँगा पहुँच गए वहाँ और जब भेंट हो गई, तो प्रेम की बाढ़ में गति रुक जाती है। बड़ा सुन्दर वर्णन गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है। आमने-सामने दोनों भैया बैठ गए हैं और गोसाई जी कहते हैं —

कोउ किछु कहहि न कोउ किछु पूँछा,
प्रेम-भरा मन निज गति छूँछा।

प्रेम के प्रवाह में मन की गति शान्त हो जाती है। और हम लोग क्या करते हैं? जोरमार करके, पकड़ करके उसे, मन की गति रोकना चाहते हैं।

तो नीरसता के मारे हमने अपने मन को, चित्त को सबको इतना विकृत बना लिया, इतना चंचल बना लिया, कि रोकने से भी इनकी गति रुकती नहीं है। एकदम out of control हो जाता है, सँभालने में ही नहीं आता। तो सच्ची बात क्या है? तो सच्ची तो यह है कि जीवन में प्रेम-रस की वृद्धि होती है तो सब प्रकार की गतिशीलता शान्त हो जाती है। मुझको इतना अच्छा उदाहरण लगता है, कोउ किछु कहहि न कोउ किछु पूँछा न कोई कुछ कह रहा है, न कोई कुछ पूछ रहा है। तो भगवान राम के पास

भी बहुत सी बातें थीं पूछने की, माता-पिता का समाचार कहो, राज्य का समाचार कहो, अपना समाचार कहो, कब आए कैसे आए? इनके पास भी बहुत कुछ पूछने को था और उनके पास भी बहुत कुछ कहने को था। लेकिन न कोई कुछ कह रहा है न कोई कुछ पूछ रहा है। क्या हो गया? तो दो प्रेमियों के मिलन में रस की ऐसी बाढ़ आ गई कि उसमें सब प्रकार की गतियाँ डूब गईं। बैठे हैं चुपचाप, एक-दूसरे को देख रहे हैं।

एक बार स्वामी जी महाराज के साथ एक बड़े संत से मिलने गए। महाराज जी की उनसे मित्रता थी। राँची में जंगल में पहाड़ पर एक प्रसाद करके आश्रम बना हुआ था। नाम था उसका प्रसाद, तो उसी में आकर वे संत रहा करते थे। बड़े अच्छे थे संत थे, बहुत ऊँची निष्ठा थी, उनका जीवन बड़ा सुन्दर था। आधुनिक युग के मनोविज्ञान के विद्वान थे। सन्यासी और निज स्वरूप की स्थिति में उनकी निष्ठा थी। बहुत ऊँचे संत थे, प्रेमी जन थे। तो स्वामी जी महाराज जब राँची में जाएँ तो पूछें उनका नाम लेकर हैं क्या?स्वामी जी का नाम है प्रज्ञान पाप तो स्वामी जी पूछें प्रज्ञान पाप है क्या? पता लगाया जाए। मालूम हो जाए कि हैं, तो स्वामी जी उनसे मिलने जाए। तो हम लोग गए मिलने के लिए, कई बार गए थे। एक बार की घटना है, मिलने के लिए गए वहाँ तो उनके आश्रम में जब पहुँचे तो आश्रम का वाबुमण्डल इतना शान्त लगता, इतना शान्त लगता कि ऐसा मालूम होता कि बाहर से रोम-रोम में शान्ति जबरदस्ती भीतर घुस रही हो, ऐसा लगता। और जब उनकी कुटिया के पास पहुँचे, तो ऊपर की मंजिल में रहते थे, उनको मालूम हो गया कि स्वामी जी महाराज पहुँच गए हैं तो भीतर से वे निकल कर आते दरवाजे तक महाराज जी का स्वागत करने के लिए। इधर से सवारी में से मोटर में से उतर कर स्वामी जी महाराज कहते और उधर से प्रज्ञान पाप जी आते उनसे मिलने के लिए, तो शरीर की लम्बाई स्वामी जी से 6-7 इंच उनकी ऊँची-ऊँची थी और

खूब भव्य मूर्ति थी। बड़ा स्वस्थ बुलन्द शरीर था और हृदय ज्ञान और प्रेम का भंडार तो था ही। तो आए निकल कर स्वामी जी से मिलने के लिए और इधर से महाराज जी आए, इधर से ये दोनों आए, थोड़ी दूर का फासला ही रह गया और दोनों संत चुपचाप खड़े हो गए जहाँ के तहाँ। न हिले न डुले न बोले। हम सब साथी लोग देख रहे हैं। कोई सीढ़ी पर चढ़ते समय नीचे ही खड़ा है, कोई ऊपर चढ़ गया है और उनके भक्त लोग, प्रज्ञान पाप जी के भक्त लोग उनके पीछे खड़े हैं, अपने महाराज जी के बच्चे लोग उनके पीछे खड़े हैं और देख रहे हैं। एक-दूसरे को इतनी शान्ति, इतनी गम्भीरता। ऐसा लगे कि मूर्तियों के दर्शन कर रहे हैं। खड़े हो गए, न बात करें, न बोलें, न चलें न मिलें। कि थोड़ी-थोड़ी दूर पर दोनों खड़े हैं। तो ऐसा होता है।

हृदय का भाव उमड़ने से ऐसा होता है कि बाहर की सब प्रकार की गति जहाँ के तहाँ, ज्यों कि त्यों रुक जाती है। कुछ साथी लोग, स्वामी जी महाराज के साथ पांडेचेरी अरविन्द आश्रम में भी गए थे और वे लोग बताते हैं, वहाँ जाकर भी ऐसा ही हुआ। अरविन्द जी मिले और दोनों एक दूसरे के सामने हुए तो नजदीक पहुँचने से पहले जहाँ के तहाँ दोनों के दोनों एकदम खड़े होकर शान्त हो गए। तो कितना समय ऐसे ही निकल गया। क्या हो गया? तो हो क्या गया कि यह तत्त्व जो है ज्ञान का प्रकाश और प्रेम का रस, इतना सरस है, इतना सरस है कि उसके उद्‌भव में शरीर और संसार और स्थान और समय सारे खत्म हो जाते हैं। इनकी कोई धारणा रहती ही नहीं है। तो शुद्ध है जो, सत्य है जो, रसमय है जो, आनन्दमय है जो उसमें प्रवृत्ति और गति कैसी। वे जहाँ के तहाँ ज्यों के त्यों। बस फिर कुछ समय बीता तो प्रज्ञान पाप जी ने महाराज जी को गले से लगाया, प्यार किया, पकड़ा और कहा चलिए महाराज भीतर चलें। तो भीतर चले गए कमरे में, जाकर दोनों एक-दूसरे के सामने बैठे, फिर वहाँ

उसी तरह की शान्ति छा गई। बातचीत कुछ नहीं, बैठे हैं दोनों एक-दूसरे के पास और हम लोग चारों ओर गोला बनाकर बैठ गए थे और देख रहे थे। कैसा अच्छा लग रहा है, कितना आनन्द आ रहा है। अब इन दोनों संतों के भीतर से कौन सी लहर निकल रही थी, वायुमण्डल को छू रही थी, क्या-क्या उनके भीतर था, सो तो वही लोग जानें लेकिन इतना मालूम होता था, कि इनका देहाभास जरूर खत्म हो गया। ऐसा लगता था। तो उदाहरण है केवल अपने लोगों के सामने कि हम सब लोग आन्तरिक रस की वृद्धि का उपाय करें। इसके बिना मन और चित्त की चंचलता जाएगी नहीं। दृश्य जगत् के संयोग के बिना हम कैसे रहेंगे, अगर ऐसा सोचेंगे तो मन, चित्त दृश्य जगत् की ओर से हटेगा नहीं। तो जीवन अपने में है और उस जीवन-रस से ही आदमी हर प्रकार से तृप्त होता है और पूर्ण होता है।

तो महाराज जी ने तीनों तरह की बातें सामने रख दीं। उदार होकर नीरसता का नाश करो, स्वाधीन होकर नीरसता का नाश करो और प्रेमी होकर नीरसता का नाश करो। उदारता, स्वाधीनता और प्रेम ये ही रस के आधार हैं। और इन्हीं से जो रस व्यक्त होता है उसका कभी नाश नहीं होता। इसलिए इस रस की वृद्धि पर हमारी दृष्टि रहनी चाहिए। मन और चित्त की वृत्ति को पकड़ कर झख मारते रहो तो यह बड़ी भारी भूल होगी। किसी भी प्रकार से इसको हम लोग मिटा नहीं सकेंगे। और जिन महानुभावों ने सत्य की स्वीकृति के द्वारा अहं का परिवर्तन कर लिया, दृष्टिकोण का परिवर्तन कर लिया, जीवन के अर्थ का परिवर्तन कर लिया उनको पता ही नहीं चलता कि मेरे पास मन, चित्त, बुद्धि है अथवा नहीं है। कभी विरोध का कुछ पता ही नहीं चलता कि हम चाहें कुछ और मन चाहे कुछ। इसे हम लोग split of presonality कहते हैं। साइकोलोजी में एक ही व्यक्ति दो तरह की बातें करते रहते हैं। और कभी-कभी तो

लोगों को इतना भ्रम हो जाता है कि अपने ही मन के अन्तर्विभाजन को भगवत्-प्रेरणा कह देते हैं, मन की आवाज, पता नहीं क्या-क्या कह देते हैं।

तरह-तरह के साधक मुझको मिलते रहते हैं, कितने विधि-विधान के। उनको यह दृष्टिकोण मुझे देना पड़ता है, कि यह बात दैवीय नहीं है भाई, यह तुम्हारी भूल का परिणाम है। अपने ही जीवन के संघर्ष में यह spliting हो जाती है, टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। एक बार ऐसी बात आई, दूसरी बार ऐसी बात आई, तीसरी बार ऐसी बात आई तो मन की आवाज को लोग दैवीय आवाज कह करके उल्टा-पुल्टा काम करते रहते हैं और दुःख में पड़े रहते हैं। सो नहीं होना चाहिए। खूब अच्छी तरह से इस बात को जानिए, कि सत्य से मैंने अपने को विमुख कर लिया, मैंने मुख मोड़ लिया। परमात्मा की, परम प्रेमास्पद प्रभु की विस्मृति से मेरा यह हाल हुआ है। तो उस मूल स्रोत से अपने को विच्छिन्न मान लेने के कारण जीवन में नीरसता भर जाती है और उसकी ओर उन्मुख होते ही नीरसता का नाश होता है

नीरसता का नाश होने से मन और चित्त की शुद्धि, शान्ति, स्वच्छता, तीनों बातें हो जाती हैं मनोवैज्ञानिक स्तर से। मन और चित्त की स्वच्छता, मन और चित्त की शान्ति और इनकी शुद्धि यह सब कुछ हो जाता है रस की अभिव्यक्ति से। तो इनके पीछे न पड़ें, रस की अभिव्यक्ति के लिए सत्य की स्वीकृति को प्रधानता दें। ऐसा करेंगे तो अपना जीवन बदलेगा। अपना जीवन बदलेगा तो सब साथी बदल जाएँगे और मैंने तो प्रेम की चर्चा में ऐसा भी सुना है कि प्रेमी के जीवन में प्रेम की बाढ़ आती है तो ये जो कई जन्मों से मेरी भूल से थकी हुई इन्द्रियाँ है, भोग-प्रवृत्ति से इन्द्रियाँ थकती हैं और झूठमूठ हम लोग मान लेते हैं कि ये इन्द्रियाँ तो विषय-लोलुप

हैं। आप सोच कर देखिए? मैं विषय-लोलुप हूँ कि इन्द्रियाँ? जी! मैं हूँ। क्या होता है? सिनेमा देखने वालों का हाल पूछो। आँखें थकती हैं कितनी तरह की तकलीफें उसमें पैदा होती जाती है और उसका उपाय करते रहते हैं और वही काम करते रहते हैं।

एक माँ-बाप बच्चे को लेकर के आए। 8-10 बरस का बच्चा, तो चश्मा लगाए हुए था। तो पहली बार देखा था उसको, तो हमने कहा—क्या बात है भाई? इतने छोटे बच्चे को चश्मा कैसे लग गया? तो उन्होंने कहा कि इसकी आँख बहुत खराब हो गई। कैसे खराब हो गई? आप पूछो न जाने कब से खराब हो गई, हमको तो पता नहीं था। स्कूल में Black Board पर लिखा हुआ अक्षर यह नहीं पढ़ पाता था। तो इसकी Teacher ने कहा इसकी आँख की जाँच करवाओ, चश्मा दिलवाओ। तो चश्मा दिलाया मैंने, तो डॉक्टर ने क्या कहा? तो डॉक्टर ने कहा T.V. देखने से ऐसा हो गया। तो कितने दिन हो गए? तो उसने बताया कई महीने हो गए। चश्मा देने कोई फायदा तो है? हाँ, फायदा तो है। हमने धीरे से उसकी माँ से पूछा कि आपने घर में से T.V. हटा दिया कि नहीं? दोनों ने कहा, नहीं। बड़ी दीदी, ऐसा कैसे हो सकता है। तो हमने कहा यह बच्चा भी देखता है? हाँ देखता है, जरा इसको दूर बैठा देते हैं। यूँ कर देते हैं तथा यों कर देते हैं। मतलब 10 तरह का इन्तजाम करो लेकिन उस बुराई को मत छोड़ो। तो यह तो हाल है अपना। तो बेचारी इन्द्रियाँ विषय-लोलुप है, कि विषय-लोलुपता मुझ में है? मुझ में है, इन्द्रियों का दोष थोड़े ही है। तो कितनी गलत बात है कितना बड़ा भ्रम है कि हम सब कहते हैं, इन्द्रियाँ विषय-लोलुप हैं, इसलिए इधर-उधर जाती हैं और मैं तो रोकने वाला हूँ मैं तो इनको सँभालने वाला हूँ। बात तो उल्टी है। वे नहीं कहना चाहती हैं, उनको तो थकावट लगती है, उनमें बीमारी पैदा हो जाती है, उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं हैं, वे स्वयंप्रकाश नहीं हैं। तो जो

पर प्रकाश्य है, जो स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता, जो स्वयं कर्ता नहीं है, वह कैसे विषय-लोलुप होगा ? तो विषय-लोलुपता अपने में है ।

अपने को बदलना है और हम बदल जाएँ तो ये सब बदल जाँए। और प्रेमी जन तो ऐसा कहते हैं, गोपियों की आपस की चर्चा की बात। कभी-कभी होती रहती थी, आप लोगों ने भी सुना होगा कई बार, कई प्रसंग में। तो क्या होता है ? तो कन्हैया आ रहा है बन से गौएँ चराकर के, संध्या का समय है, गोधूलि का समय हो रहा है, वंशी की ध्वनि दूर से आ रही है। सब घर के भीतर से काम छोड़-छोड़ के बच्चे, बूढ़े, पुरुष-स्त्री सब अपने-अपने दरवाजे लग कर राह देख रहे हैं। इधर से आएँगे, ऐसी-ऐसी चाल होगी, ऐसा-ऐसा मुखड़ा होगा, ऐसी-ऐसी ध्वनि सुनाई देगी, हम दर्शन करेंगे, हम आनन्द लेंगे करके सब दरवाजे-दरवाजे लगे हैं। आ रहे हैं, आ रहे हैं गउओं के साथ-साथ वंशी बजाते हुए और अपनी भुवन-मोहनी दृष्टि से सबको आनन्दित करते हुए निकल कर चले जा रहे हैं। चले जाते हैं और कितनी सखियाँ कितने प्रेमी जहाँ के तहाँ खड़े पूछ रहे हैं कि अरे भैया, कन्हैया आया कि नहीं आया ? जी, यह क्या बात है, तुम तो टकटकी लगाए देख रहे थे। कैसे नहीं आया ? उधर ही से गया, उधर से निकला ही नहीं, तुमने देखा ही नहीं, झूठी बात बोलते हो, तुमने तो खूब देखा। तो अधीर हो करके प्रेमी कहते हैं कि क्या बताएँ, इन आँखों ने जब से उनको देखा, मुझे छोड़कर चली गई। क्या अर्थ है ? तो अर्थ तो यह है कि जीवन का जो उद्‌गम है, रस का जो स्रोत है, उससे एक बार भी connection हो जाए तो यह सब समष्टि के भाग जो आज मेरे साथ हैं, उसके साथ लग जाती है। तो रहती ही नहीं है, तो देखेंगे क्या ? है ही नहीं उसके पास, फिर उसकी परेशानी क्या ? तो यह जीवन का वैज्ञानिक सत्य भी है, यह दार्शनिक सत्य भी है और यह प्रेम-पंथ का सत्य भी है कि जो प्रवृत्ति या चंचलता, जिससे हम

लोगों को तकलीफ हो रही है, वह केवल अपनी भूल का परिणाम है अन्यथा जिस मूल उद्‌गम में से हम सब की रचना हुई है मेरी भी और इस सारी समष्टि शक्तियों की भी, उससे संयुक्त होते ही सबकी चंचलता, सबकी अशुद्धि सदा के लिए खत्म हो जाती है। आनन्द ही आनन्द रहता है। अब शान्त हो जाइए।

●

प्रवचन 20

जिस समय अपने भीतर किसी प्रकार की कमी सताती है, तो उसी समय तत्काल कामनाओं की उत्पत्ति होती है। भीतर-भीतर नीरसता का रहना मनुष्य के लिए एक बहुत बड़ी तकलीफ की बात है क्योंकि वर्तमान की नीरसता से ही संसार की ओर व्यक्ति आकर्षित होता है, तो उसमें कई प्रकार की इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं। इच्छाओं से पीड़ित होकर वह बाह्य जगत् में प्रेरित होता है और किसी न किसी प्रकार से वस्तु, व्यक्ति, परिस्थितियों का आश्रय लेकर भीतर की नीरसता की पीड़ा को भगाना चाहता है, उससे छूटना चाहता है। इस प्रयास में उसे सफलता नहीं मिलती। यह बिल्कुल सच्ची बात है, हमारी आपकी जानी हुई बात है। कामनाओं की पूर्ति की चेष्टा में व्यक्ति को सफलता नहीं मिलती है।

लेकिन अपने भीतर अभाव भरा है नीरसता भरी है और वह अपने से सहन नहीं होती है, तो घबरा-घबरा करके व्यक्ति बाह्य जगत् की ओर दौड़ता है। जीवन को जानने वाले अनुभवी जन सलाह देते हैं कि तुम्हारे भीतर जो कमी महसूस होती है, वह बाहरी वस्तुओं की, परिस्थितियों की सहायता से कभी दूर नहीं होगी। उसके लिए आवश्यक क्या है? उस अभाव को मिटाने के लिए आवश्यक यह है, कि अपने ही में सहज आनन्द स्वरूप, सहज ही रस स्वरूप जो विद्यमान है, उस पर ध्यान रखो। उसकी आवश्यकता है तुमको, उससे अभिन्न होने का पुरुषार्थ करो। यह बताते हैं। अपने लोगों की वर्तमान दशा क्या है? तो दशा तो यह है कि अविनाशी तत्त्वों की अभिव्यक्ति के बिना न अभाव मिटेगा न नीरसता मिटेगी। लेकिन भीतर-भीतर अभाव और नीरसता से पीड़ित रहने पर भी हम पराश्रय और पराधीनता के द्वारा ही समस्या का समाधान करना चाहते हैं। तो बड़ी कठिनाई हो जाती है।

अब आप अपनी ओर से सोच कर देखिए अगर संसार की सहायता से हमारा यह काम होने वाला होता तो जितना भी समय आपने बिताया है, उस समय के भीतर संसार की ओर से इच्छा-पूर्ति का सामान हम लोगों को मिला है कि नहीं मिला है? कभी नहीं मिला है, ऐसा तो हो नहीं सकता। इच्छापूर्ति का सामान संसार ने कभी दिया कि नहीं दिया? कभी-कभी तो दिया होगा न भई? जी! अनेक बार हम लोगों की इच्छाएँ संसार की सहायता से पूरी हुई है और उनकी पूर्ति का सुख लेने के बाद भी हम अपने को भीतर से अतृप्त ही अनुभव करते हैं। आदर्श जीवन की बात अब आगे करेंगे। वर्तमान की दशा को देखो, तो उस दशा से आपको स्वयं ही अपने ही जीवन में यह बात दिखाई देगी। अनेक बार भूख लगने पर, भूख की पीड़ा मिटाने में संसार सहायक हुआ है कि नहीं हुआ है? अनेक बार नींद आने पर नींद का आराम आने में सुरक्षित जगह देकर सोने का अवसर संसार ने दिया है कि नहीं दिया है? अनेक बार शरीरों में रोग बीमारी होने पर उस रोग के कष्ट से छुटने के लिए संसार ने औषधि की सहायता दी है। जी! इतना काम तो किया न। संसार के करने का जो हिस्सा है, उतना तो संसार ने किया और कई बार बीमार हो गए फिर शरीर ठीक हो चुका है। जी! हो चुका है न? मृत्यु का भय मिट गया क्या? नहीं मिटा! मृत्यु का भय मिटाने में संसार सहायक नहीं हो सका। लेकिन भूख मिटाने के लिए, प्यास मिटाने के लिए, नींद के लिए, सुरक्षित स्थान दिलाने में, बाल-बच्चेदार कहलाने में संसार ने सहायता की और उस सहायता को लेकर के हम सब लोगों का कुछ विशेष उपकार नहीं हुआ।

क्यों नहीं हुआ? कि जैसे संसारिक सुखों के लिए भूखे-प्यासे हम पैदा हुए थे, आज भी उसी तरह से भूखे-प्यासे है। और मैंने तो मानव-जीवन का जो अध्ययन किया सूक्ष्म शरीर के आधार पर, तो मुझे अध्ययन

में इस बात का पता चला, कि इच्छाओं की पूर्ति का जितना अधिक अवसर आपको मिलेगा, भीतर-भीतर उतना ही इच्छा-पूर्ति के सुख का दास आप बनते चले जाते हैं। सुख की दासता बढ़ती जाती है सुख भोगने की शक्ति घटती जाती है। इच्छाओं की पूर्ति के अवसर निकल जाते हैं और इच्छा पूर्ति के सुख की तृष्णा भीतर-भीतर बढ़ती चली जाती है।

तो अर्थ क्या निकला? तो अर्थ यह निकला कि भीतर की नीरसता को छोड़कर हम बाहर सरसता खोजने चले थे। सुख-भोग की प्रवृत्तियों में जीवन का रस सूख गया, जीवन का रस खर्च हो गया, घट गया। जो आप में बीज रूप में विद्यमान है, उसमें से जो जीवनी-शक्ति निरन्तर प्रवाहित हो करके हम लोगों को मिलती रहती है, वह जीवनी-शक्ति ही खर्च होती चली गई।

किस बात में? इच्छाओं की पूर्ति के सुख भोगने में। आगे चल कर दशा कैसी हो गई? कि दशा ऐसी हो गई कि सुख भोगने की शक्ति अब नहीं है? लेकिन भोगने का लालच पहले से भी ज्यादा strong है, और भी ज्यादा प्रबल हो गई। तो लाभ हुआ कि हानि हुई? जी ! हानि हुई। 20 वर्ष की उम्र में जिस प्रकार से खाने का सुख ले सकते थे 70-75 की उम्र में वह सुख है, कि घट गया? तो शरीरों की दशा बदलती गई, दुर्बलताएँ बढ़ती गई, असमर्थतता बढ़ती गई और साथ-साथ तृष्णा खत्म हुई नही, इच्छा खत्म हुई नहीं तो नई उम्र में जीवन में जितना अच्छा लगता था, वृद्धावस्था की असमर्थतता में उससे अधिक अच्छा लग रहा है कि बुरा लग रहा है? बुरा लग रहा है। इस बात को जानने के लिए ग्रन्थ पढ़ना पड़ेगा? नहीं। एक-एक दिन जो जीवन की घटनाएँ घटित हो रही हैं, अपनी जिन्दगी के पन्ने उल्टो, तो यह सब बातें उसमें साफ दिखाई देती है।

एक बार एक मानसिक रोग की चिकित्सा के सम्बन्ध में विचार हो रहा था, तो विदेश के लोगों ने ऐसा सोचना आरम्भ किया कि भारतवर्ष के लोग गरीब भी हैं, उनमें शिक्षा की भी कमी है, अनेक प्रकार के भौतिक सुखों से वे वंचित है फिर भी वृद्धावस्था में डिप्रैशन कम है। यह एक रोग है, भारतवर्ष के लोगों के जीवन में वह बीमारी कम दिखाई देती है। क्यों कम दिखाई देती है? इस पर विचार हो रहा था। बाहर से लोग हिन्दुस्तान में देखने आए थे, जानने आए थे, पढ़ने आए थे कि क्या कारण है? ऐसा-ऐसा होता है, तो बहुत सी बातें सोची गईं, बहुत सी बातें देखी गईं। उन लोगों ने अपनी सीमित दृष्टि से विचार किया। सत्य का ज्ञान तो है नहीं और अविनाशी जीवन का इस नाशवान शरीर के रहते-रहते कोई case मिल सकता है कोई possibility है उसकी ऐसा वे सोच भी नहीं सकते हैं। तो इस आधार पर उन्होंने अध्ययन करके देखा और जो उत्तर उनको मिला, जिसके सम्बन्ध में उन्होंने चर्चा की, वह हमारे आपके लिए बहुत अच्छी बात है। सारांश में कहती हूँ। उनकी भाषा मैं नहीं बोल रही हूँ, अपनी भाषा में बोल रही हूँ।

सारांश यह है कि भारतीय संस्कृति में मनुष्य के जीवन को असफलता से बचाने का बड़ा प्रबन्ध किया गया है। क्या प्रबन्ध किया गया है? कि हर stage पर, जीवन की हर अवस्था में, बाल्यावस्था में, युवावस्था में, प्रौढ़ावस्था में, वृद्धावस्था में ऐसा इन्तजाम रखा गया है अपनी संस्कृति में, कि जैसे-जैसे आपकी शारीरिक दृष्टि से उम्र बढ़ती चली जाए वैसे-वैसे आप नाशवान उपलब्धियों को छोड़कर के अविनाशी के पुरुषार्थ में लगते चले जाएँगे। यह बात पकड़ में आती है? जी! नाशवान की ओर से आपकी दृष्टि हटती जाएगी और शरीर जा रहा है नाश की ओर और शरीर धारी आप भाई-बहन जा रहे हैं अविनाशी की ओर, अपनी संस्कृति में ऐसा विधान है। ऐसा है कि युवावस्था में विवाह के अवसर

पर पति-पत्नी की गाँठ को बाँधने का विधान किया जाता. है। तो जहाँ गाँठ बाँधने का विधान है वहाँ 2-4 दिनों के बाद ग्रन्थि खोलने का विधान भी है। सारी जिन्दगी बँधे रहो, ऐसी संस्कृति आपकी नहीं है। राग-निवृत्ति के लिए, बाल-बच्चे होने का राग है, तो विवाह कर लो और विधि-विधान से, धार्मिक अनुष्ठान से माता-पिता बन जाओ और बाल-बच्चों का पालन-पोषण करो ईमानदारी से परिश्रमपूर्वक, धर्मानुष्ठान के द्वारा माता-पिता की सेवा के द्वारा, गुरुजनों के आदर के द्वारा, संत जनों की सेवा के द्वारा कमाई हुई सम्पत्ति को पवित्र करते हुए, बाल-बच्चों का पालन करते हुए जैसे ही बच्चे बड़े होते हैं वैसे ही गृहस्थी की मान्यता अस्वीकार कर दो।

तो शक्ति घटेगी पीछे और तपस्वी बनेंगे आप पहले। राग-रंग में दिल बहलाने के अवसर आपके सामने हैं। सुन्दर-सुन्दर स्वादिष्ट भोजन खा करके अब सहने की ताकत अपने में है पर हमारे ऋषि-मनीषियों ने इस बात को जाना था, क्या जाना था कि व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से असमर्थ होगा, इसके पहले उसके भीतर अविनाशी तत्त्वों का विकास हो जाना चाहिए, जिससे कि वह इतना बलिष्ठ हो जाएगा कि नाशवान के नाश होने का उसको कोई दुःख नहीं होगा। तो हमारे जीवन-विधान बनाने वालों ने शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान और जीवन का दर्शन तथा आस्तिकता सब मिला करके संस्कृति की रचना की।

एक बार मैं दार्जलिंग में थी, उन्हीं दिनों की बात है, पढ़ाई के ही दिनों की बात है। एक सज्जन कहने लगे कि आप लोग आजकल जो मनोविज्ञान का अध्ययन करते हैं, वह तो सब पाश्चात्य विज्ञानों का product है अर्थात् उन्हीं लोगों ने खोज किया है, उन्हीं लोगों ने बताया है, तो उसको आप भारतीय मनोविज्ञान से मिलाते कैसे है? कैसे उसको मिलाएँगे कैसे उसको अलग करेंगे? तो मैंने कहा कि अगर आप भारतीय

है, तो आपके जीने का जो तरीका है, मनुष्य के जीवन का जो ढंग बनाया है हमारे मनिषियों ने, तो प्रतिदिन के दैनिक जीवन में, न उन्होंने मनोविज्ञान को छोड़ा न उन्होंने दर्शन को छोड़ा और न उन्होंने आस्तिकता को छोड़ा।

आज रविवार है, तो नमक नहीं खाएँगे और आज एकादशी है तो ऐसा नहीं करेंगे और अब इतनी उम्र हो गई, तो गृहस्थ नहीं रहेंगे। तो गृहस्थ नहीं रहेंगे, तो वनस्थ हो जाएँगे। और वनस्थ हो गए तो अब सन्यासी हो जाएँगे। तो ऐसा करके उन्होंने एक ऐसा बढ़िया साँचा बना दिया कि जिस साँचे में ढ़लते हुए सही ढंग से मनुष्य जीवन बिताए तो अनेक प्रकार की अतृप्ति तथा वासनाओं को लेकर पैदा हुआ था परन्तु अपने जीवन के क्रम का अनुसरण किया तो मरने से पहले वह हर प्रकार से तृप्त होकर जाएगा।

असमर्थता आएगी पीछे, नाशवान शक्तियों का नाश होगा पीछे और अविनाशी शक्तियों की अभिव्यक्ति से आनन्दमय हो जाएँगे आप पहले। तो क्या होगा? कि यहाँ के वृद्ध-जन नाशवान शरीरों की परवाह नहीं करते। यहाँ यह वृद्ध जन किस बात में लगे होते हैं? वे कहते हैं कि बहुत दिन हो गए भई संसार का यह तमाशा बहुत देख लिया बहुत खा-पी लिया, बहुत मौज कर लिया अब क्या करें? भई अब तो उसको याद करो जो सदा-सदा का साथी है। अब तो उसको याद करो जो जब कुछ करने वाला है। अब तो उसको याद करो जो आनन्द स्वरूप है, जो शान्ति स्वरूप है, जो प्रेम स्वरूप है, अब उसको याद करो। तो जीवन के क्रम में हम सभी भाई-बहनों को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि जब से अपने को होश आए कि मैं मनुष्य हूँ, उसी समय से इस दिशा में हम लोगों को लग जाना चाहिए कि हम असत्य के संग पर आश्रित रहना छोड़कर, अविनाशी के आधार पर जीवित रहना पसंद करे। तो सम्पत्ति के

सहारे जीना छोड़कर के सत्य के सहारे जीना आरम्भ करें। संगी-साथी, कुटुम्बी-जनों को अनुकूल बनाए रखने की चिंता छोड़कर सत्य के आश्रित रहना पसंद करें, परमात्मा के आश्रित रहना पसंद करें। यह बात हमारे जीने की शैली में मनीषियों ने हर प्रकार से भर दिया है। और मैं जब अपनी छात्राओं को मनोविज्ञान और जीने की कला यह सब पढ़ाती थी तो उनको इस बात की याद भी दिला देती थी। syllabus जितना पूरा करना है वह तो करवा दिया, तो ठीक है इतना तुम इम्तिहान पास करने के लिए पढ़ लो और आखिर में 10-20 लेक्चर में बचा कर रख लेती थी, कि भई बढ़िया उत्तम जीवन, सफलता पूर्वक जीने की कला भी सीखते जाओ।

तो मेरे ध्यान में आ जाता, कि देखो हमारे ऋषियों-मनीषियों ने, मानव को सुन्दर जीवन-कला सिखाने वालों ने जीवन को विभिन्न भागों में बाँट दिया। तो सारी जिन्दगी परिश्रम के लिए नहीं है, सारी जिन्दगी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगाने के लिए नहीं है। अगर गृहस्थ बनना है तो इतना बढ़िया गृहस्थ बनो कि तुम्हारे भीतर गृहस्थ बनने की वासना खत्म हो जाए। बाल-बच्चे पैदा करो तो इतने बढ़िया माता-पिता बनो, कि तुम्हारे भीतर माँ-बाप बनने का राग खत्म हो जाए। तो बाल-बच्चों के लिए माता-पिता बनोगे तो मुक्त हो जाओगे और अपनी खुराक बनाने के लिए बाल-बच्चे पैदा करोगे तो वासना में फँस जाओगे।

अब माँ-बाप का हाल देखें। अपनी रुचि के अनुसार बच्चों को चलाने की चेष्टा करने वाले माँ-बाप हार जाते हैं और बच्चों के कल्याण की दृष्टि से अपना सब कुछ उनकी सेवा में लगाने वाले माँ-बाप जीत जाते है। समझ में आता है ? तो जो गृहस्थ बनता है सम्पूर्ण जीवन को साधनमय बनाने के लिए, उसको आसक्ति का रोग नहीं होता है। उस रोग का लक्षण क्या है ? बहुत लम्बा चौड़ा विवरण है, आपको पढ़ाने नहीं बैठी हूँ मैं।

एक-दो बात छोटी बता दूँ। क्या हो गया ? कि इन्द्रियों की शक्तियाँ घटती चली जा रही है तो अब बाहर की वस्तुओं का सुख लेने में जो मन बहलाव हो रहा था, उसका दरवाजा बन्द हो रहा है। जी ! ठीक है न ? तो इन्द्रिय-लोलुपता से प्रेरित होकर के, वस्तुओं के संयोग का सुख लेने में अपने को थोड़ा अच्छा-अच्छा लग रहा था, तो वह सब जब घटने लगा तो भीतर की नीरसता थोड़ी और बढ़ गई। युवावस्था में जब कमाने की सामर्थ्य थी तो परिवार के सब लोग आप पर attention देते थे, ध्यान देते थे न ? अरे मालिक आ रहे हैं, अरे मालिक आ रहे हैं, उनका सामान ठीक कर दो, उनका बिस्तर ठीक कर दो, उनको नाश्ता ठीक कर दो, उनका खाना ठीक कर दो। जिस प्रकार से खुश रहें, सो करो। तो बाल-बच्चे, स्त्री, माता-पिता भाई-बन्धु, नौकर-चाकर, कर्मचारी, संगी-साथी, मित्र-मण्डली सब आपकी खातिरदारी में लगे रहते थे। अब जमाना आपका खत्म हो गया। सरकार ने दे दिया farewell, chair वापिस ले लिया, आपका समय बीत गया आप जाइए। तो आगे-पीछे चौकीदार, चपरासी जो थे, उन्होंने सलाम कर लिया, कि बाबू अब जा रहे हैं, हो गया। अब शान-शौकत में जो अच्छा-अच्छा लग रहा था, छूट गया। बाल-बच्चे जिनको पैदा करके आपने बड़े किए, उन्होंने सब कारोबार सँभाल कर अपने हाथ में ले लिया। बाबू जी, अब ठीक है, अब आप राम-राम जपिए। तो वह अधिकार भी गया। अब देखो आदमी भीतर से कितना अधीर होता चला जा रहा है।

तो जब शरीर की असमर्थतता बढ़ गई, जब अधिक सहायता करने वालों की जरूरत पड़ी, तो सब सहायता करने वाले बिखर गए। जी ! असल में भूखे रहने की ताकत थी तो 2-4 घण्टे भूख भी आप सह सकते थे लेकिन उस समय आपका मुख देखने वाले बहुत लोग खड़े थे, कब इनको भूख लगती है, कब इनके आगे रखा जाए। वृद्धावस्था आ गई तो

भूख सहने की आदत घट गई और ठीक-ठीक समय पर आपको भोजन देने वालों का ध्यान भी हट गया।

मैंने यह हालत देखी है । मेरे कलेजे में, मेरे दिल में इसका बड़ा एक दर्द रह गया है। मैंने देखा है, माता-पिता का देहान्त जल्दी हो गया था। भाई लोगों की शादियाँ हो गई थीं, भौजाइयाँ घर में भरी थीं। 3 भाई बड़े 3 भाई मुझ से छोटे, छः भाइयों का परिवार घर में भरा था। वृद्धावस्था में पिता जी भोजन के समय पर अपने पात्र में जल भर के रखेंगे, नियम था उनका। स्नान करेंगे, बर्तन साफ करेंगे, साफ जल भर के ले आएँगे, रखेंगे नाश्ता जलपान। इधर-उधर की चीज कभी नहीं खाई उन्होंने। एक समय पर ठीक समय पर भोजन करते थे। कितनी बार मैं देखती थी कि भोजन के लिए लोटे में जल भर के तैयार, वृद्धावस्था में भूख ही कितनी ? भाभी कहती कि बाबूजी अभी थोड़ी देर है, चले जाएँगे वापिस। ऐसी चोट लगती थी दिल में। क्योंकि मैनें दादी को देखा था, माँ को देखा था कि ये लोग बाबू जी का मुख देखतीं रहती थीं। किसी दिन उन्होंने जरा-सा कम खाया तो, दादी तो माँ की मुसीबत कर देती थी कि तुमने ठीक रसोई नहीं बनाई, आज ऐसे ही उठ गए, आज उसकी थाली में रोटी बच क्यों गई ?.

रसोई बनाने वाली माँ और चाची की मुसीबत हो जाती, दादी इतना हैरान कर देती उन लोगों को। दूसरे समय उनको निकाल देती रसोई में से। हटो तुम लोग, मैं बनाऊँगी मैं खिलाऊँगी। सवेरे उसकी थाली में रोटी बच क्यों गई। आफत हो जाती आँगन में। उनको मैंने देखा बार-बार लोटे में जल भर के ले के आँगन में आ रहे हैं और बहू लोग कहती हैं बाबू जी अभी थोड़ी देर है। लौट के वापिस जा रहे हैं। तो वृद्धावस्था में भूख अति तीव्र हो गई और समय पर भोजन देने वाले का ध्यान भटक गया, तो असमथर्तता बढ़ गई। तकलीफ बढ़ गई। सहारे सब एक-एक

करके छूट गए। तो क्या होता है ऐसी हालत में, व्यक्ति भीतर-भीतर निराधार होता जाता है। तो हमारे आचार्य जो हम लोगों को पढ़ाते, वे कहते कि संसार जब इस प्रकार से हमारे ऊपर से अपना ध्यान हटा लेता है, तो हमको लगता है कि हाय-हाय मैंने कुछ नहीं किया मैंने कुछ नहीं पाया।

feel (महसूस) करता है, यही symtom (लक्षण) है निराशा का। हाय मैंने कुछ नहीं किया, कुछ नहीं पाया, तो उस समय मैं पढ़ती थी जब, तब तो बड़ी दया आती थी। अब जब मैं सोचती हूँ कि कितना अच्छा chance है हम लोगों के लिए, कितना अच्छा अवसर है कि संसार मुझको छोड़ेगा, उसके पहले मैं संसार को छोड़ दूँ। जी ! आप देखिए अपने जीवन में कि जो माता-पिता ठीक समय पर सामर्थ्य के रहते-रहते साधना में लग जाते हैं, सत्संग में लग जाते हैं, भजन में लग जाते हैं, परोपकार के सामाजिक कार्य में लग जाते हैं, उनके बाल-बच्चों का ध्यान आपकी ओर अधिक आता है कि कम आता है ? अधिक आता है। पूजा करने आएँगे, आर्शीवाद लेने आएँगे सलाह लेने आएँगे। आप कहेंगे कि भैया, जाओ तुम लोग अपना-अपना काम करो, हमको छोड़ दो। तो नहीं बाबूजी आपकी सलाह के बिना हम कैसे चलेंगे। तो घर में जाओ, तो कहेंगे नहीं-नहीं हमको उससे कोई मतलब नहीं हैं। हम तो अब सत्संग में हैं, हम तो अपने कल्याण में लगे हैं, जाओ तुम लोग करो संसारिक काम। तो पोता कहेगा नहीं-नहीं दादा जी जब तक आएँगे नहीं, मैं तो घोड़ी नहीं चढ़ूँगा, मैं तो party नहीं करूँगा तो आप जब अपने भीतर आसक्ति लेकर के बैठेंगे, आप जब अपने भीतर बाल-बच्चों पर अधिकार जमा कर बैठेंगे तो भगवान का कितना सुन्दर विधान है, कि संसार आपको ठुकराता है।

बड़ा ही शुभचिंतक है संसार। बड़े ही शुभचिंतक हैं व बाल-बच्चे, जो आसक्ति में बँधे माँ-बाप को ठुकरा करके भगा देते हैं। जाओ

जाओ-जाओ, तुमसे अब कोई मतलब नहीं है, तुम्हारे दिन बीत गए। तुम्हारा काम खत्म हो गया। ये ठोकरें भी मुझे अगर सचेत न बनाएँ, तो मेरा मानव होना तो कहाँ गया, कौन क्या कहे? इसीलिए मैं बिल्कुल ही आपको स्थूल व वैज्ञानिक रहस्य बताती हूँ जीवन का कि आप अगर भीतर के अभाव को बाहर की सहायता से भरने की चेष्टा में रहेंगे तो मानसिक रोगी बनना ही पड़ेगा। हाय मैंने कुछ नहीं किया, कुछ नहीं पाया। इस प्रकार की feeling में पीड़ा में, तड़प के प्राण छोड़ना पड़ेगा। और आपने समय के रहते-रहते सचेत होकर के, छूटने वाला छोड़ेगा मुझको पीछे और मैं उसको छोड़ दूँगा अपनी स्वेच्छा से। यह बहादुरी आप करेंगे तो सम्मान भी सुरक्षित रहेगा और वैसे ही असत्य का सहारा छोड़ कर सत्य की अभिव्यक्ति में कृतकृत्य हो जाता है व्यक्ति। अपनी आन्तरिक शान्ति की अभिव्यक्ति में आनन्दित हो जाता है व्यक्ति। अभी यहीं की बात है इसी साल की। एक सत्संगी महिला मुझको मिली, तो सत्संग की चर्चा होने लगी। तो कहने लगी हमारे जान-पहचान की एक लड़की है, हमारे नगर में रहती है, तो वह सत्संग में आती थी। संत जनों की वाणी उसको अच्छी लगी, तो वह लग गई भजन में। परमात्मा की लगन उस में लग गई। अब जब थोड़ी बड़ी हुई 18-20 बरस की, शादी का इन्तजाम होने लगा, तो माता-पिता तो इस धुन में थे कि इस की शादी कर देंगे, समय हो गया है और लड़की सत्संग में थी। तो एक दिन सत्संग की चर्चा सुनते-सुनते प्रभु की महिमा, प्रभु का प्यार, सत्य की विशेषता, महत्ता, संत कोई बता रहे होंगे, वह बैठ कर सुन रही थी सुनते-सुनते उसको बड़ा आनन्द आ गया उसकी समाधि लग गई प्रभु की महिमा को सुनते-सुनते। तो सत्संग का कार्यक्रम खत्म हो गया और समाधि उसकी लगभग 6 घण्टे के बाद टूटी। तो जहाँ बैठी थी वहाँ बैठी ही रहीं। अब लोग सब उठ गए, वह बैठी रही समाधि में, आनन्द में। 5-6 घंटे हो गए तब उसकी

समाधि टूटी, तो बड़े आनन्द में थी। बहुत मस्ती में थी, फिर तो घर के सब लोग तो उसके आस-पास बैठे ही थे। सयानी लड़की सत्संग में गई थी और लोग भी गए थे। समाधि लग गई उसकी और सब लोग चले गए उसकी माँ और घर वाले कुछ लोग बैठे रह गए। बहुत अच्छा है आनन्द में है उसे रहने दो जब इसकी समाधि खुलेगी तो ले चलेंगे।

तो जब उसकी समाधि खुली तो इतने आनन्द में थी वह लड़की कि न उसका घर जाने का मन हो न बात करने का मन हो, अपने अनुपम के रस में खूब भरी हुई थी, तो कैसे ले जाएँ उसको उठे ही नहीं, चले ही नहीं। दो रिक्शे ले आए घर वाले लोग और बहुत कह सुनकरके उसको उठाकरके बिठाया ले आए घर। घर आ गई, अपनी उसी आनन्द की मस्ती में है, खाए-पिए कुछ नहीं, बातचीत कुछ न करे। जब थोड़ी देरी के बाद और कुछ समय बीता और जब थोड़ा और स्वाभाविक हुई, तब कहने लगी कि आहा ! भगवान के भजन में ईतना आनन्द है, संत के संग में इतना आनन्द है, सत्संग इतना बढ़िया है। अब इसके आगे मुझको कुछ नहीं चाहिए। तो उसने एकदम इन्कार करके विवाह-सम्बन्ध बनाने का सब कार्यक्रम बन्द करवा दिया। नहीं, नहीं, नहीं इससे बढ़िया और कोई दूसरा कोई जीवन हो ही नहीं सकता। अपने में इतना रस है, अपने में इतना आनन्द है, अब उसके आगे और क्या चाहिए और किस बात के लिए संसार से सम्बन्ध बनाओगे ? और क्या है संसार के पास ?

अपने भीतर जो अविनाशी तत्त्व विद्यमान है, उसके प्रकट हो जाने में जो जीवन है, वह संसार से सम्पर्क बनाने में है नहीं। कहीं नहीं है। कभी नहीं मिला, किसी को कभी नहीं मिलेगा। समझ में आया। अब अभी भी देखो अबकी भी सोचो। तो वह तो 18-20 बरस की लड़की। अभी उसने जीवन आरम्भ ही किया है अब इसी काल में सत्संग के प्रभाव से ही उसके अन्तर में विद्यमान सत्य की अभिव्यक्ति से इतना आनन्द आ

गया। इतना आनन्द आ गया कि सचमुच जीवन में जो अनमोल रस है वह संसार की धूल फाँकने में नहीं है। तो कितने जन्म हम लोग गँवा चुके और अब भी जो समय हमारा बीत रहा है, उसी समय में हमको कितना सावधान होना चाहिए?

किस तरह से अपनी दृष्टि को बदल देना चाहिए, किस तरह से अपने ही में विद्यमान उस वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति में प्राण-तन से लग जाना चाहिए कि भाई असमर्थता की घड़ी आएगी पीछे और अनन्त सामर्थ्यवान से अभिन्न हो करके सदा-सदा के लिए कृत्-कृत्य हो जाएँगे पहले। अब सोच करके देखो उस लड़की की युवावस्था खत्म हो जाएगी वृद्धावस्था आएगी, तो उसकी कोई चिंता उसको होगी? उसका कोई दुःख उसको पीड़ित करेगा? कुछ नहीं।

सत्य का आनन्द जो है, सत्य का आश्रय जो है, अविनाशी परमात्मा की शरणागति में निश्चिंतता, निर्भयता जो है, उनकी प्रीति में अनन्त मधुर रस जो है, उसकी तुलना संसार की किन्हीं स्थूल वस्तुओं के संयोग में हो सकती हैं? नहीं हो सकता। तो कितने दुःख की बात है कि हम लोग यहाँ बैठकर, चर्चा करें सत्य की और जीवन में महिमा रखें असत्य की? कितने दुःख की बात है! भाई, हम लोग चर्चा करने बैठे हैं सत्य की, तो जीवन में महिमा भी सत्य की रखनी चाहिए। चर्चा करने बैठे हैं भगवान की, तो जीवन में महिमा भी भगवान की रखनी चाहिए। मनुष्य होने के नाते इज्जत पूर्वक, सम्मान पूर्वक दुनिया में जीवन बिताना चाहते हैं, तो सचमुच अपने में मनुष्यता भी बढ़ानी चाहिए कि नहीं बढ़ानी चाहिए? तो सत्संग के प्रकाश में रहकर अपने भीतर के अभाव को क्षण भर की मधुरता से भर लेना पसंद कर लेता है, उसका मानव-जीवन सफल हो जाता है। फिर से दोहराती हूँ इस वाक्य को, इस संसार में रहते हुए भीतर-भीतर जो अभाव सताता है, हम लोगों को नीरसता सताती है, उसको अगर क्षण

भर की प्रियता से भरना चाहते हैं तो मानव जीवन सफल हो गया। अगर हीरा-मोती से भरना चाहते है, तो चौपट हो गया। अगर ईंट-पत्थर के बनाए हुए बड़े महल के अभाव को मिटाना चाहते हो, तो गया। गया न? तो जड़ता की महिमा स्वीकार करूँगी मैं, तो भीतर में जड़ता भर जाएगी। अनन्त परमात्मा की महिमा स्वीकार करूँगी मैं, तो उनकी विभूतियाँ मेरे भीतर भर जाएँगी।

तो ईश्वरीय विभूतियों से मनुष्य का अभाव मिटता है। परमात्मा के मधुर प्रेम-रस से मनुष्य का हृदय भरता है, न कि सोना-चाँदी, हीरा-मोती से भरेगा। आप जड़ नहीं है, कि जड़ता की सहायता से काम चलेगा। समझ में आता है? आप जड़ होते, तो जड़ता की सहायता से काम चल जाता। आप जड़ नहीं है, आपको चेतन स्वरूप ने अपना ही प्रतिरूप बनाया, आपको परमात्मा ने अपनी ही धातु से रचा। इसलिए आप चेतनस्वरूप होने के कारण नाशवान शरीर को लेकर नाशवान जगत् में रहते हुए भी उसके चिंतन में लगे रहते हैं, उसकी खोज में लगे रहते हैं, उससे मिलने के लिए व्याकुल रहते हैं। तो यह प्रोग्राम होना चाहिए हमारा कि हम असत् के महत्त्व को अपने में से हटा देंगे, परमात्मा के महत्त्व को स्वीकार करके सदा-सदा के लिए उनका प्रेमपात्र हो जाएँगे। यह प्रोग्राम कब पूरा करेंगे हम लोग? अभी करना चाहिए न? अभी करना चाहिए। ऐसा स्वीकार करके उठो, तो पूरा हो ही जाएगा। अब शान्त हो जाएँ।

●

मानवता के मूल सिद्धान्त

1. आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत् चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्त्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।
7. निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार, विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्त्व देना।
11. व्यर्थ-चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्जवल बनाना।

सन्त हृदय की करुण पुकार

हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे हृदयेश्वर, हे सर्वेश्वर, हे प्राणेश्वर, हे परमेश्वर ।
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
हे समर्थ हे करुणासागर विनती यह स्वीकार करो ,
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
भूल दिखाकर उसे मिटाकर अपना प्रेम प्रदान करो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।
पीर हरो हरि पीर हरो हरि पीर हरो प्रभु पीर हरो ।